

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186564

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP-23-4-4-69-5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H049.9143** Accession No. **P. G. H-2423**
B81P

Author **श्रीज विहारीशरण**

Title **...** 52.

This book should be returned on or before the date
last marked below.

प्राचीन और नवीन

(निबन्ध-मंग्रह)

लेखक

श्री ब्रजविहारीशरण

प्रकाशक

कला निकेतन, पटना ४

संस्करण
प्रथम

मूल्य
३॥)

१६५२

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
१—बिहार	१
२—मगध और 'कीकट'	८
३—प्राचीन अंग देश	१५
४—प्राचीन भारतीय इतिहास की कुछ समस्याएँ	२५
५—प्राचीन भारत के 'राजन'	४४
६—प्राचीन भारत के गण-राष्ट्र	६५
७—प्राचीन और नवीन	८१
८—पाश्चात्य विज्ञान और भारतीय दर्शन	१६
९—अमरीका का स्वतन्त्रता-युद्ध	११०
१०—सत्यम्	१२३
११—अभय	१३४
१२—प्रगति	१४४
१३—धन	१५५
१४—सौन्दर्य	१६४
१५—प्रेम	१७३
१६—उपन्यास—एक दृष्टि कोण	१७७

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	राज्य-पथ	राजपथ
३	३०	सद्धाश्रम	सिद्धाश्रम
५	१२, १३	अभूतेरयस	अमूर्त्तरयस
७	१०	कौशल	कोसल
८	६	दुह्वे	दुह्वे
८	७	आनोभर	आ नो भर
८	७	मथवन्न	मधवन्न
६	२३	चरणार्द्र	चरणार्द्रि
६	२४	कीटक	कीकट
१०	१६	तैत्तरीय	तैत्तरीय
१०	२२	ऋत्यव्रचा	ऋत्यव्राचा
११	२२	सुरयाति	सुऱ्याति
१२	२	बहुमत पर्वत श्रेणी	बहुमत विन्ध्यपर्वतश्रेणी
१२	६-१०	मगधक्षेत्र को	मगधक्षेत्र और गयाक्षेत्र को
१२	११	स्वतन्त्र	स्वतन्त्र-क्षेत्र
१२	१३	बुद्धदेव के	बुद्ध-देव ने
१२	१७-१८	प्रश्न उठता है कि स्वभावतः वह	प्रश्न स्वभावतः उठता है कि वह
१३	३	ता	तो
१३	१६	आर्जित	अर्जित
१४	१४	उनका	उसका
१७	२१	विटंकर	विटंकपुर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	६	पाँच हुए	पाँच पुत्र हुए
१८	२२	इसकी	इनकी
२२	१२	रहे थे	रहा था
२६	२	बाद इस	बाद के
३३	२४	के अध्याय	के २३ वे अध्याय
३५	१५	लड़कियों	लकड़ियों
४०	२६	कृष्ट	क्लिष्ट
४१	१६	ब्राउरी	ब्राउह्री
४२	५	हेद्दास	हेरास
५५	२७	शुक नीति	शुक नीति
५७	१८, २०	महामात्रा	महामात्र
५६	१२	पहले तब सन्त्रियों	पहले तो म०
५६	१७	सम्पाति	साम्प्रति
६२	१५	ग्रामीण	ग्रामणि
६४	२	प्राङ्बिवाक	प्राङ्बिव
६६	१५	कल्पनामिह	कल्पनामिह
६६	१६	गणनांत्वा	गणानांत्वा
६६	२०	गणपतिगवामहे	गणपतिगश्चगवामहे
६६	२७	सात्वतां	सात्वतानां
६६	२७	भोजेत्येन	भोजेत्येनेना
६७	१२	यऽपरच्यानां	येऽपाच्यानां
६७	१६	अभिषिक्त होता	अभिषिक्त नहीं होता
६८	१२	(२) सुरष्ट्रा	(२) सुराष्ट्र
६८	१६	गण के थे	गण थे
६६	१३	बौद्ध-ग्रन्थों ने	बौद्ध-ग्रन्थों में
७१	१६	मालन गणस्य	मालव गणस्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	६	उसके	उनके
७८	१०	तत्राप्येव	तत्राप्येव
७८	१४	बीस पसन्द	बीस का पसन्द
७६	२०, २७	महामात्राओं	महामात्रों
८५	८	रभृता	रमृता
८६	२५	खण्ड मिलकर	खण्ड एक-एक
६३	१४	Wadson	Watson
६४	१५	भुका	भुक
६५	१६	पस्तद्वे	यस्तद्वे
६५	१७	कीर्त्वा	तीर्त्वा
१०८	१४	त्रासमान	भासमान
१०८	१५	सत्यभास	सत्याभास
११२	१८	मसिसीपी	मिसिसिपी
११३	५	बढ़ती	बढ़ाती
११६	२	उपनिवेशों पर	उपनिवेशों में
११६	२५	चार	चाए
११८	३	बैंकर्स (Bankers)	बंकर्स (Bunkers)
१२०	२५	वर्गीयन	बर्गीयन
१२३	६	इनका	इसका
१२३	१७	उठाने	उठने
१२४	२५	स्वरूप	स्वरूप में
१२८	२३, २४	हैं किसी	है कि किसी
१२६	६, ७	ऋषि के मुख	शिष्य के मुख
१३०	८	Capn quisihion	Inquisition
१३३	३	यासमान	भासमान
१३६	१६	शीव	नीव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४०	५	पहुँचना	पहुँचाना
१४२	१६	दुःखियों को	दुःखियों के
१४७	२७	जीव	जीवन
१५६	६	उपधन	उस धन
१६१	५, ६	अलग होती	अलग-अलग होती
१६२	२५	में किया	में तय किया
१६७	१२	Foded	Faded
१६८	१६	Do the	Doth
१६८	२३	Unholder	Beholder
१७१	१४	अर्जित	उर्जित
१७२	१२	नर-राज	नट-राज
१७३	१७	Where fancy	Where is fancy
१७६	१०	प्रकृति की ओर	प्रवृत्ति की ओर
१८३	१	विद्यां या	विद्यां चा
१८३	१	दो मयं	दोभयं
१८६	२२	चरास्तिलच	यशस्तिलक

बिहार

वर्तमान 'बिहार' के अन्तर्गत प्राचीन 'मिथिला', 'करुष', 'मगध' 'अङ्ग' देश भी हैं। प्राचीन लेखों से मालूम होता है कि उपरोक्त प्रत्येक देश-खण्ड के निवासी भिन्न-भिन्न जाति, इतिहास और संस्कृति-वाले थे। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि चाहे आर्य-जाति बाहर से आई हो, अथवा भारत में पहले से ही बसी हो, उसका फैलाव पञ्जाब से मिथिला तक गङ्गा-यमुना के उत्तर ही में हुआ था। जिस समय वाल्मीकीय रामायण लिखा गया, उस समय इन दोनों नदियों के दक्षिण और अङ्ग के पश्चिम घने जङ्गलों का ही वर्णन पाया जाता है। अयोध्या काण्ड में उस मार्ग का वर्णन है जो अयोध्या से केकय देश को जाता था, और जब भरत को अयोध्या बुलाना आवश्यक हो गया तब राजदूत इसी मार्ग से गया था। यह राज्य-पथ अयोध्या से उत्तर-पश्चिम की ओर हस्तिनापुर होता हुआ, केकय को गया था। इन दोनों बातों से स्पष्ट है कि उस समय सभ्य प्रदेश गंगा-यमुना के उत्तर ही में थे।

'मिथिला' एक देश और एक नगर का भी नाम था। यहाँ का राजवंश उत्तर कोसल के इक्ष्वाकुओं की एक शाखा था। इस वंश के विषय में, वाल्मीकीय रामायण में निम्नलिखित कथा पाई जाती है : इक्ष्वाकु के पुत्र, और जनकों के पूर्वज, राजा निमि ने, जयन्त नामक एक नगर बसाया और उसी नगर में यज्ञ करने का निश्चय किया। जब वह इक्ष्वाकुओं के पुरोहित, वशिष्ठ को वरण करने गये, तब वशिष्ठ ने कहा

कि मुझे इन्द्र का यज्ञ कराना है, इससे आप किसी दूसरे को नियुक्त कीजिए। तब राजा ने कश्यप आदि ऋषियों से यज्ञ कराया। यज्ञ समाप्ति के बाद वशिष्ठ पहुँचे। उस समय राजा सोये थे। वशिष्ठ को बड़ा क्रोध हुआ कि इसने मेरा अपमान करके यज्ञ करा लिया। इसलिए उन्होंने राजा को श्राप दिया कि तू बे-देह का हो जा। जब राजा की नींद खुली और उसने इस श्राप को सुना, तब उसने भी मारे क्रोध के वशिष्ठ को श्राप दिया कि बिना बात के जाने तूने श्राप दिया है इससे तू भी बे-शरीर का हो जायगा। इस तरह दोनों—पुरोहित-यजमान—बे-शरीर के हो गये (बा० रा० उ० का० स० ६५)। इसमें सन्देह नहीं कि यह किंवदन्ती केवल 'विदेह' उपाधि का कारण ढूँढ़ने के प्रयत्न में गढ़ी गई होगी। क्योंकि मिथिला के सभी राजा 'वैदेह' कहाते थे। किन्तु उपनिषदों में वर्णित जनक की ज्ञान-शूरता के आधार पर हम 'वैदेह' का धिक सन्तोष-जनक व्याख्यान कर सकते हैं।

इस देश का 'मिथिला' नाम राजा निमि के पुत्र मिथि के नाम से बना। उपर कहा गया है कि निमि का शरीर छूट गया। निमि के पुत्र नहीं था। इसलिए ऋषियों और पुरोहितों ने उस शरीर को मन्थन किया और उससे मिथि का जन्म कराया।

इन कथाओं में जो कुछ भी ऐतिहासिक बातें छिपी हों, इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि आर्य-सभ्यता का फैलाव गङ्गा-यमुना के उत्तरी प्रदेशों में ही पहले-पहल हुआ, और इस सभ्यता के फैलानेवाले इन्द्राकु वंशज ही थे। इस प्रदेश में असुर-अनार्यों से युद्ध की बात किसी भी ग्रन्थ में नहीं पाई जाती। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि अनार्य इस प्रदेश से बहुत पहले ही हटा दिये गये थे।

मिथिल-राज्य में ही विशाला नगरी थी, जो बुद्धकाल में वैशाली के नाम से विख्यात थी। इस नगरी को इन्द्राकु-वंशीय राजा विशाल ने स्थापित किया था और इसीसे इसका नाम विशाल पड़ा। यहाँ के सभी निवासी 'राजा' कहाते थे, और सभी दीर्घ-जीवी और धर्मात्मा

होते थे । इस तरह वैशाली का राजवंश भी उसी सूर्य-वंश से उत्पन्न हुआ था, जिससे मिथिला का 'विदेह' वंश निकला था । (बाल काण्ड, रा०) ।

करुण और मलद देशों का साथ-साथ वर्णन पाया जाता है । करुण को आधुनिक शाहाबाद जिला समझा जाता है । रामायण में यह गढ़न्त कथा है, कि जब इन्द्र शाप-ग्रस्त हुए थे, तब वे इन्हीं देशों में स्नान करके पवित्र हुए । महाभारत में लिखा है कि जब मगध का राजा दुर्योधन की ओर से लड़ा, करुण के राजा ने सेना सहित, युधिष्ठिर की सहायता की । ऋणक्य के समय में करुण-निवासी विख्यात डाकू थे और लूट के माल का बटवारा निश्चित नियमों के अनुसार किया करते थे । अनुमान किया जाता है कि मगध की सीमा पर वर्तमान होते हुए भी, यहाँ के निवासी, अपनी रीति-नीति बनाये रखने में सफल हुए थे । मगध-साम्राज्य, या तो इन्हें पूर्णतया अपने वश में नहीं कर सका था, या इनके भीतरी प्रबन्धों में हस्तक्षेप करना अनावश्यक समझता था । महर्षि विश्वामित्र के साथ श्रीरामचन्द्र की यात्रा का जो वर्णन रामायण में है, उससे स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय गुड्डा का वहाव वर्तमान वहाव के बहुत उत्तर में होता था और सरयू का संगम भी वर्तमान संगम से बहुत पश्चिम में होता था । यह संगम अयोध्या से डेढ़ दिन की दूरी पर था और संगम से दक्षिण सवन जंगलों की परम्परा थी । संगम पर गंगा पार करके महर्षि पूर्व-दक्षिण की ओर चले और डेढ़ दिन चलकर सिद्धाश्रम पहुँचे । आधुनिक वक्सर ही प्राचीन सिद्धाश्रम माना जाता है । सिद्धाश्रम से मिथिला जाने के लिए, उन्हें पूर्व-उत्तर की ओर जाना पड़ा और तब भी वे सोन और गंगा के संगम पर न पहुँचे । इससे मालूम होता है कि वर्तमान पटना जिला का पश्चिमी भाग, उस समय करुण में ही सम्मिलित था ।

अंगदेश मगध के पूर्व में था और इसकी राजधानी चम्पा थी । वर्तमान भागलपुर नगर के सटे नाथनगर है और उसके अन्तर्गत मुहल्ला

चम्पानगर प्राचीन चम्पा बताया जाता है। ऋग्वेद में अंगों और मागधों का वर्णन इस प्रकार किया गया है जैसे वे बहुत दूर देशों के रहनेवाले हों। किन्तु ब्राह्मणों में उनका जैसा वर्णन है, उससे मालूम होता है कि उस समय, इन दोनों देशों में, आर्य्य-सभ्यता और आर्य्य-शासन की प्रधानता हो चुकी थी। वाल्मीकीय रामायण के समय में तो अंग का कोशल के साथ घना सम्बन्ध माना जाता था। अंग के राजा रोमपाद दशरथ के ऐसे मित्र थे कि दशरथ उनकी पुत्री शान्ता को अपनी ही पुत्री मानते थे। (उत्तर रामचरितम्)। रामायण में लिखे हुए वर्णनों से यह स्पष्ट है कि उस सप्रय जब करुण जंगलों और अनाय्यों से भरा था, अंग सभ्य देश था और वहाँ आर्य्य-संस्कृति स्थापित हो चुकी थी। इसमें भी सन्देह का अवकाश नहीं मालूम होता कि जब तक शिशुनाग-वंशी राजा मगध के सिंहासन पर नहीं बैठे, तब तक अंग का राज्य स्वतन्त्र ही रहा। किन्तु विम्बिसार ने अंग को हराकर, मगध में मिला लिया। इसके बाद अंग की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं रह गई।

कुछ विद्वानों की राय है कि मगध का प्राचीन नाम कीकट था। ऋग्वेद ३-५३-१४ में लिखा है कि कीकट निवासी, 'नाशिरं दुह्ने न तपन्ति धर्मम्।' टीकाकारों ने इसका अर्थ यों किया है कि उनकी गायें 'आशिर' दूध नहीं देती और न दूध के वर्तन को गर्म होने का मौका ही देती। इसी ऋचा में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वे इन अनायों का धन अपने भक्तों (आर्य्यों) को दे दें। इससे विदित होता है कि आर्य्य ऋषियों की दृष्टि में, कीकट-निवासी आर्य्य-संस्कृति के बाहर थे और उनके धन का हरण करना, आर्य्यों के लिए निन्दित कर्म नहीं समझा जाता था। इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि इस मन्त्र के ऋषि, प्रसिद्ध महर्षि विश्वामित्र हैं जिनका नाम, पीछे के रामायण, महाभारत और पुराणों में, इन्हीं पूर्वी प्रदेशों से सम्बद्ध पाया जाता है। इन प्रदेशों के निवासियों को 'व्रात्य' भी कहा जाता था, क्योंकि यहाँ के लोग वैदिक संस्कारों को नहीं मानते थे। इसलिए यदि वैदिक

ऋषि-गण, आजकल के क्रिस्तान पादरियों की तरह, इन 'व्रात्यों' को अपना भगवद्दत्त शिकार समझते हों, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं।

'कीकट' का नाम 'मगध' कैसे और कब हो गया, विचारणीय है, क्योंकि इसका पता नहीं चलता। परन्तु अथर्ववेद में 'मगध' देश का उल्लेख पाया जाता है, और जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि महावीर और बुद्ध के पहले से ही यह देश 'मगध' ही कहा जाता था। वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ३२ में जहाँ विश्वामित्र ने गिरिव्रज के स्थापित होने की कथा कही है, वहाँ 'मगध' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इस कथा से यह भी मालूम होता है, कि गिरिव्रज के बसानेवाले राजा वसु उसी विश्वामित्र के पूर्वजों में थे, जिनका वर्णन इतिहास-पुराणों में और रामायण में पाया जाता है। ब्रह्मा के पुत्र कुश के चार पुत्र हुए—कुराम्ब, कुरानाभ, अभूर्तयस् और वसु। कुराम्ब ने कौराम्बी, कुरानाभ ने महोदय, अभूर्तयस् ने धम्मारण्य, और वसु ने गिरिव्रज बसाया। बुद्ध-समय में कौराम्बी एक विख्यात व्यापार का केन्द्र था। यह यमुना के किनारे बसा था, और यमुना-गङ्गा की राह से वह काशी से २३० मील की दूरी पर था। बौद्ध-ग्रन्थों में गिरिव्रज के निर्माण करने का श्रेय महागोविन्द शिल्पकार को दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि गिरिव्रज बहुत प्राचीन समय में बसाया गया था और अनाग्र्यों पर आग्र्यों की विजय का सूचक था।

महाभारत में राजगृह का उल्लेख नहीं पाया जाता। जरासन्ध की राजधानी का नाम गिरिव्रज ही था और श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ उसे मारने के लिए गिरिव्रज ही गये थे। गिरिव्रज के चिह्न अभी तक पाये जाते हैं। उस नगर की बाहरी दीवारों का वृत्त साढ़े चार मील था, और वह पाँच पर्वतों पर बसा था। महाभारत में इसे मगध भी कहा गया है। इसके सौन्दर्य और दुर्जयता की प्रशंसा श्रीकृष्ण ने स्वयं की है। बुद्धदेव के समकालीन बिम्बिसार ने, गिरिव्रज के सटे दक्षिण, पहाड़ों के नीचे, राजगृह को बसाया। तब से मगध की

राजधानी राजगृह ही हो गया। राजगृह गिरिव्रज से छोटा था, क्योंकि इसका वृत्त तीन ही मील पाया जाता है। सम्भव है कि राजधानी नही रहने पर भी गिरिव्रज सूना नहीं हो गया। महाभारत के अनुसार यह रमणीक और सुदृढ़ था और उस समय वहाँ का राजा जरासन्ध था। वह इतना बलवान था कि भारत भर में उसका बोलवाला हो गया था। उसी के भय से और श्रीकृष्ण की राय से अन्धक-वृष्णिधों ने मथुरा छोड़ दिया, और द्वारावति भाग गये। उसने अनेक राजाओं को हरा कर बन्दी बना लिया था और उन्हें नरबलि बनाने का निश्चय भी किया था। तथापि उस समय की यह नीति नहीं थी, कि हारे हुए राजाओं के राष्टों को विजेता अपने राष्ट्र में मिला ले। हारे हुए राजा सापन्त बनकर रहते थे और विजेता को कर दिया करते थे। जब तक वृद्धथ के वंश के अधिकार में गिरिव्रज का सिंहासन रहा, तब तक तो यही नीति बरती गई, और मगध बलवान होने पर उषों का त्यो रहा। किन्तु जब बार्हद्रथों का अन्त हो गया और शिशुनाग वंशीय गिरिव्रज के राजा होने लगे, तब राजनैतिक विचारों में उलट-फेर हो गया। विम्बिसार ने पहले-पहल अङ्ग को हराकर अपने राज्य में मिला लिया। विम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु बुद्ध के ही समय में वैशाली को जीतने के प्रयत्न में लगा था। कुछ ही दिनों में उसने वैशालिकों में ऐसा विग्रह खड़ा कर दिया कि उसे वैशाली जीतकर अपने राज्य में मिला लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई। जैसे जैसे समय बीतता गया, इस वंश के राजा भारत के छोटे-बड़े राष्टों को जीतते गये, और इस तरह काशी, कोशल, कौशाम्बी आदि राष्ट्र मगध में मिलकर, उस साम्राज्य की नींव को पुष्ट करते गये, जिसने अशोक के समय में अपनी पूर्णता को पाया। नन्दि-वर्धन ने ही इस साम्राज्य को सागर तक पहुँचाने का प्रयत्न किया था और इसीसे कलिङ्ग का पहला युद्ध हुआ, जिसमें कलिङ्ग हारा।

‘पाटलिपुत्र’ किसने, और कब बसाया, इन प्रश्नों के उत्तरों में मद्भेद है। एक मत के अनुसार पाटलिपुत्र को अजातशत्रु ने ही एक

गढ़ के रूप में इसलिए बनवाया कि उसे वैशाली के दमन करने में सुविधा हो। एक यह भी कथा है कि जिस समय पाटलिपुत्र बन रहा था, बुद्धदेव ने इसे देखकर, इसके भावी बढ़पन की भविष्य-वाणी कही थी। दूसरे मत के अनुसार, पाटलिपुत्र को अजातशत्रु का पुत्र उदयी ने बसाया और राजधानी को राजगृह से पाटलिपुत्र हटा दिया। यवन राजदूत मेगास्थनीज ने लिखा है कि यह नगर गङ्गा के दक्षिण और सोन के पश्चिम, गङ्गा-सोन के सङ्गम पर बसा था। पाटलिपुत्र के भग्नावशेष अब भी मिलते हैं और उसके प्राचीर की नींवें अब भी दिखाई देती हैं। किन्तु इसका पता नहीं चलता कि सोन नगर के पश्चिम कब बहने लगी।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे ज्ञात होगा कि कौशल के राजवंश ने ही आर्य-संस्कृति को पूर्व देशों में फैलाया और फलतः इन सभी प्रदेशों में राष्ट्र चलानेवाले 'राजा' ही थे। यह एक आश्चर्य की बात है कि इस राजमण्डल के बीच में, पहले विशाला में, और पीछे समस्त मिथिला में गण-तन्त्र वा कुल-तन्त्र कैसे स्थापित हो गया। कुछ इतिहासज्ञों की धारणा है कि ऋग्वैदिक काल में राज-तन्त्र की ही प्रधानता थी, किन्तु अथर्ववेद और ब्राह्मणों के समय में ही गण-राष्ट्रों का निर्माण हो गया था। पाणिनी के पहले के लेखों से यह नहीं पता चलता कि उस समय कौन-कौन गण-राष्ट्र वर्तमान थे। अथर्ववेद में गण-राष्ट्रों का उल्लेख प्रसङ्ग-वश आया है। यद्यपि पाणिनी ने गणसङ्घों की सूची दी है, वह भी प्रसङ्गवश ही दी गई है और यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरे-दूसरे गण-राष्ट्र थे ही नहीं। यह भी स्पष्ट नहीं है कि किन कारणों से प्राचीन राजवंशों का अन्त हो गया और गण-राष्ट्र स्थापित हुए। कौटिलीय अर्थशास्त्र में वैदेह राज्य के नाश का संकेत भर किया गया है—सम्भवतः उसने ब्राह्मणी के साथ व्यभिचार किया था।

मगध और 'कीकट'

अधिकांश विद्वानों का मत है कि सम्भवतः मगध का प्राचीन नाम 'कीकट' था। यदि यह धारणा ठीक है तो प्रश्न उठता है कि 'कीकट' किस प्रकार 'मगध' में परिवर्तित हो गया और अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। ऋग्वेद में एक ही ऋचा में 'कीकटः' शब्द आया है। वह ऋचा निम्नलिखित है :—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो, नाशिरं दुहुवे न तपन्ति धर्मम् ।

आनोभर प्रमगन्दस्य वेदो नै चाशाखं मथवन्नन्ध्रयानः ॥ ३-५३-१४

इस ऋचा के विषय में पहली बात जो स्पष्ट है, यह है कि शब्द है 'कीकटेषु' न कि 'कीकटे'। यदि 'कीकट' देशवाचक होता तो यह बहुवचन में क्यों प्रयुक्त होता ! किन्तु सभी टीकाकारों ने यास्क के अनुसार इस प्रयोग को देशवाचक ही समझा है। यास्क की टीका का हिन्दी भाषान्तर दिया जाता है—

‘तुम्हारे लिए कीकटों में गायें क्या करती हैं ! वे न तो आशिर दूध देती हैं, न ऐसा दूध जो सोमरस में मिलाया जा सके। और न तो वे (दूध देकर) दूध का बर्तन गरम करने का ही अवसर देती हैं। (हे इन्द्र !) तू प्रमगन्द के धन को हमलोगों के पास ला।’

कीकट एक देश का नाम है जहाँ अनार्य रहते हैं। किंकृतः अथवा किंक्रियाभिः का अपभ्रंश है कीकट। 'मगन्द' उसे कहते हैं, जो रुपया सूद पर देता है। (या) यथार्थ शब्द मांगद है; यानी, वह जो दूसरे को रुपया इस अभिप्राय से देता है कि यह मेरे (मान) पास फिर आयेगा (गद)। मगन्द का बेटा या वंशज हुआ प्रमगन्द—वह जो बहुत सूद पर रुपया देता है।

सायन ने यास्क के अनुसार ही इस ऋचा का अर्थ किया, किन्तु आश्चर्य है कि कुछ विद्वानों ने 'प्रमगन्ध' कीकटों के राजा का नाम समझ लिया है। वैदिक इंडेक्स (Vedic Index) के लेखकों जैसे कुछ प्रसिद्ध विद्वानों का भी वही भूल करना आश्चर्यजनक है। वे कहते हैं—'कीकट'—'एक जाति का नाम है, जो ऋग्वेद के एक ही ऋचा में पाया जाता है, जहाँ वे गायक के शत्रु बताये गये हैं और प्रमगन्ध नामक नेता के नेतृत्व में देखे जाते हैं।'

प्रस्तुत विषय के लिए नीचे लिखी हुई बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) ऊपर उद्धृत ऋचा से यह स्पष्ट है कि 'कीकट' यदि देश का नाम था, तो एक जाति का भी नाम था। (२) कीकटों में वैदिक सभ्यता नहीं थी। (३) उनमें बहुत सूद पर रुपये देकर धन जमा करने की प्रथा थी। (४) वे नीच कुल के समझे जाते थे। (सायन)

इन बातों से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि कीकट असभ्य थे, क्योंकि सूद पर रुपये अथवा और धन को देना प्रायः असभ्यता की दशा में नहीं पाया जाता। रुपये पर सूद का जोड़ना असभ्यों से हो नहीं सकता, सूद से बहुत धन इकट्ठा करना तो दूर की बात है।

कीकट के विषय में बाद के ग्रन्थों में जो प्रमाण मिलते हैं, उनका भी उल्लेख कर देना उपयुक्त है। 'शब्द कल्पद्रुम' में कीकट शब्द का अर्थ यों किया गया है—कीकट-अच्, शनैर्दुर्गतं वा धावति, अथवा कुत्सितं कटति प्रकाशते। उसी कोष में शक्तिसंगमतन्त्र से उद्धृत एक श्लोक है, जो नीचे दिया जाता है—

चरणाद्रिसमारभ्य ग्रध्रकूटान्तकं शिवे ।

तावत् कीटक देशः स्यात् तदन्तरं मगधो भवेत् ॥*

* कुछ लोगों का मत है कि 'अन्तर' शब्द से 'अन्तर्गत' समझना चाहिए। किन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि ग्रध्रकूट पर्वत गया के पास है। इस तरह

यदि यह श्लोक प्रामाणिक समझा जाय तो कीकट मगध नहीं था और मगध कीकट नहीं था ।

यदि 'कीकट' उसी देश का नाम है, जिसे अथर्ववेद में मगध कहा गया है, तो प्रश्न उठता है कि कैसे इतने ही दिनों में 'कीकट' शब्द का लोप होकर 'मगध' उसकी जगह पर प्रसिद्ध हो गया ? ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के बनने के समय में और अथर्ववेद के समय में इतना अन्तर तो हो नहीं सकता कि 'कीकट' नाम ही लुप्त हो जाय; क्योंकि यह देखा जाता है कि भारत के किसी भी प्रान्त का प्राचीन नाम अभी तक विस्मृत नहीं हुआ है । इससे यह कहना ठीक नहीं प्रतीत होता कि ऋग्वेद और अथर्ववेद के बीच के ही समय में 'कीकट' नाम लुप्त होकर 'मगध' हो गया ।

'मगध' शब्द का अर्थ क्या है ? कुछ विद्वानों ने 'मगध' शब्द की उत्पत्ति ऊपर उद्धृत ऋचा के 'मगन्द' शब्द से बताई है । वैदिक इण्डेक्स के लेखकों ने एक लेख लिखा है, जिसका सारांश है—'मगध' एक जाति का नाम है, जिसका वैदिक साहित्य में हीन ख्यातिवालों के रूप में उल्लेख हुआ है । ऋग्वेद में तो यह नाम नहीं मिलता । किन्तु अथर्ववेद ५-२२-१४ में मिलता है, जहाँ पर उवर को गान्धारों, मुजवन्तों, अङ्गों और मागवों के पास भगाया जाता है । फिर पुरुषमेध की बलियों की सूची में, जो यजुर्वेद के वाजसनेय-संहिता (३०-५-२२) और तैत्तरीय ब्राह्मण (३-४-११) में पाई जाती है, मगधवासी का भी उल्लेख है, जहाँ वह 'अतिक्रुष्ट' (बहुत शब्द करनेवाला) कहा गया है । अथर्ववेद के ऋत्यब्राचा में (१५-२-१-४) कहा गया है कि मगधवासी ब्राह्मणों का मित्र, मन्त्र, सुशस और मेवगर्जन हैं । श्रौत-सूत्रों के अनुसार जब कोई ब्राह्मण

'कीकट' के भीतर 'मगध' का होना असम्भव हो जाता है । फिर 'अन्तर' शब्द भिन्नता दिखाने के लिए भी व्यवहृत हुआ है—जैसे वाल्मीकीय रामायण में सीताजी रावण से कहती हैं—“यदन्तरं वायसवैनतेययोः” आदि ।

आर्यसमाज में लिया जाता था तो ब्राह्म-सांकेतिक कपड़े-लत्ते इत्यादि मगधदेशीय ब्रह्मबन्धु को दे दिये जाते थे ।

ऊपर दिये हुए प्रमाणों से साफ़ मालूम होता है कि न तो 'कीकट' और न 'मगध' शब्द की ही उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव है । कीकटों का जो चित्र हमारे सामने आता है, वह किसी प्रकार 'मागधों' के चित्र से मेल नहीं खाता ।

पीछे के साहित्य में कीकटों का वर्णन तो प्रायः है ही नहीं । किन्तु मागधों का वर्णन प्रचुर रूप से पाया जाता है । मागधत में कहा गया है कि संकट का बेटा कीकट एक राजा था । मागधों के विषय में महाभारत के कर्ण-पर्व में कहा गया है—

‘इङ्गितज्ञाश्च मगधाः प्रेक्षितज्ञाश्च कोशलाः ।’

इससे यह प्रतीत होता है कि जब यह श्लोक लिखा गया, मगध-निवासी बड़े ही बुद्धिमान समझे जाते थे । इसी तरह सभापर्व में, जहाँ जरासन्ध को मारने के लिए पाण्डवों की यात्रा का वर्णन है, श्रीकृष्ण ने उनकी और उनकी राजधानी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । बौद्ध-ग्रन्थ भी, महाभारत और रामायण की तरह, मागधों को शक्ति, सभ्य और प्रशंसनीय जाति ही बताते हैं । इसलिए ईसा-पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी तक तो मागधों के सभ्य और प्रगतिशील होने में कोई शंका ही नहीं उठ सकती ।

किन्तु, ऊपर देखा गया है कि वैदिक काल में कीकट और मागध दोनों ही नीची दृष्टि से देखे जाते थे । तथापि दोनों के वर्णन अलग-अलग हैं और यदि मगधनिवासी उत्तरोत्तर सुगयाति पाते गये, 'कीकट' (देश और जाति) का ऋग्वेद के समय के बाद एक तरह से लोप ही हो गया । इसलिए शक्ति सङ्गमतन्त्र से उद्धृत श्लोक, जिसे ऊपर दिया गया है, महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाता है । इसमें कहा गया है कि चरणाद्रि पर्वत से आरम्भ होता हुआ गुधकूट पर्वत तक कीकट प्रदेश है और उसके

बाद मगध है। गृध्रकूट पर्वत कहाँ है, इसके विषय में कुछ मतभेद है, किन्तु कुछ दिनों से बहुमत पर्वतश्रेणी के एक पर्वत को ही गृध्रकूट मानने लग गया है। यदि शक्तिसङ्गमतन्त्र में दिया हुआ वर्णन ठीक है, तो गृध्रकूट पर्वत कनिंघम (Cunningham) का बताया हुआ गिरियक पर्वत कभी नहीं हो सकता; क्योंकि वह राजगिरि से पूरव-दक्षिण है, और गृध्रकूट को होना चाहिए राजगृह से पश्चिम। चरणाद्रि के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता कि वह कहाँ था; किन्तु यह शब्द अधिकतर उस पर्वत के लिए व्यवहृत किया जाता है, जिसके पीछे सूर्य-चन्द्र अस्त होते हैं।

बहुआ ने अपनी 'गया और बोधगया' नामक पुस्तक में मगध-क्षेत्र को अलग-अलग देशखण्ड बताया है, और प्रमाण भी दिये हैं कि गया-क्षेत्र मगध-राष्ट्र के अन्तर्गत होते हुए भी एक स्वतन्त्र, मगध-क्षेत्र से अलग था। गया-क्षेत्र में भी दो भाग थे। एक गया और दूसरा धर्म्मार्ण्य, जहाँ बुद्धदेव के बुद्धत्व प्राप्त किया था। बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि इस प्रदेश में नीरञ्जना (आधुनिक नीलाजन) नदी के तट पर एक सेनानिगम या सेनानीगम नामक गाँव था, जहाँ बुद्धदेव के बहुत पहले आर्यों की एक छावनी थी। रामायण में लिखा है कि कुश के पुत्र अमूर्तरजस ने धर्म्मार्ण्य नाम की एक राजधानी बसायी थी। प्रश्न उठता है कि स्वभावतः वह धर्म्मार्ण्य यही सेनानीगम तो नहीं था? शक्ति संगमतन्त्र में बताया हुआ कीकट देश का सन्निवेश, रामायण तथा महाभारत में दी हुई अमूर्तरजस और राजा गय की कथाएँ, तथा ऋग्वेद में वर्णित कीकटों की बातें एक दूसरे से मेल खाती प्रतीत होती हैं; क्योंकि यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद मागधों को नहीं जानता। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्य उस समय ऐसे स्थान पर नहीं पहुँचे थे, जहाँ उनकी मागधों से मुठभेड़ हो, अथवा उनके विषय में उन्हें कुछ ज्ञान प्राप्त हो। यह हालत अथर्ववेद के समय में उत्पन्न होती है, जब कीकट लुप्त हो जाते हैं और मगधदेशीयों से आर्यों का सामना होता है। इन बातों से यह अनुमान किया जा सकता है कि इस बीच के समय में

ही कीकटों का दमन किया गया था और कुश के चारो लड़कों ने अपने-अपने लिए एक-एक राजधानी बना ली थी।

कुशाम्ब की बसायी कौशाम्बी, और वसु का बसाया गिरिव्रज तो विदित हैं, किन्तु अमूर्तरजस के धर्म्मरारण्य और कुशनाभ के महोदय का पता अभी तक नहीं चला है। भारत का मानचित्र देखने से स्पष्ट है कि कौशाम्बी (आधुनिक कोशम) और राजगृह के बीच इलाहाबाद, मिर्जापुर, शाहाबाद और गया जिलों के दक्षिणी भाग पड़ते हैं। रामायण में कहा गया है कि कुश ब्रह्मा के पुत्र थे। इसका अर्थ है कि उनके पहले की वंश-परम्परा किसी को विदित नहीं थी। सम्भवतः वह आर्यों के एक नेता थे, जो कीकटों के विरुद्ध उनका नेतृत्व करते थे। वसु के राजगृह बसाने की कथा से यह प्रतीत होता है कि उनके पुत्र अनार्यों को हराते-हराते राजगृह तक आ गये; और यह सब प्रदेश उनके वश में हो गये; प्रत्येक पुत्र ने अपने लिए एक-एक राजधानी बनाई। ये राजधानियाँ निश्चय ही इसी प्रदेश में होनी चाहियँ, क्योंकि चारों कुमार ऐसा ही करने के लिए बाध्य हुए होंगे। बात यह है कि ऐसा करने से ही वे अपनी अर्जित सम्पत्ति की रक्षा कर सकते थे और एक दूसरे की सहायता भी कर सकते थे। इसलिए महोदय और धर्म्मरारण्य का अनुसन्धान इसी प्रदेश में होना चाहिए। गय ने अपना प्रसिद्ध यज्ञ गया-क्षेत्र में ही किया था। यदि राजा गय, अमूर्तरजस के पुत्र थे और धर्म्मरारण्य कहीं इसी के आसपास था, तो उनका गया-क्षेत्र में यज्ञ करना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धदेव के समय का धर्म्मरारण्य केवल पूर्वकालीन अमूर्तरजस की राजधानी धर्म्मरारण्य की स्थिति का ही द्योतक है।

इसी सिलसिले में रामायण में दी हुई कुशनाभ की कथा पर भी विचार कर लेना ठीक है। उनकी एक सौ पुत्रियाँ थीं। वे जंगलों में घूमती थीं कि एक दिन पवन ने उनसे अशिष्ट प्रस्ताव किया और उनके सह-मत न होने पर उनके शरीर में प्रवेश कर उन्हें कुब्जा बना दिया।

इस पर कुशनाभ ने उनका विवाह काम्पिल्य के राजा चूली ब्रह्मदत्त से कर दिया और विवाह होते ही वे पवन के प्रकोप से मुक्त हो कर स्वस्थ हो गईं । यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि चूली ब्रह्मदत्त एक प्रसिद्ध सर्वविजयी राजा था । इसलिए यह समझना कि कुशनाभ का राज्य कहीं कौशाम्बी और काम्पिल्य के बीच में था, निराधार ही होगा । यह भी स्पष्ट है कि पश्चिम और उत्तर में तो प्राचीन आर्य-राष्ट्र थे ही, उधर कुश के नये वंश का समावेश कैसे हो सकता था । इस दृष्टि से भी यही परिणाम निकलता है कि कुश के वंशजों की राजधानी कौशाम्बी के पूर्व-दक्खिन में रही होगी ।

ऊपर के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि—

(१) कीकट प्रदेश 'मगध' नहीं था; (२) मगध कीकट के पूर्व था; (३) कीकट के अन्तर्गत अमूर्तरजस की धर्म्मार्ण्य नामक राजधानी बोधगया के आसपास में थी; और (४) कुशनाभ की राजधानी, जो वनों से घिरी थी, कीकट देश में ही स्थित थी और उनका नाम महोदय था; वह कौशाम्बी और मगध के बीच में थी और सम्भवतः धर्म्मार्ण्य के पश्चिम थी ।

[फरवरी, १९४६]

प्राचीन अंगदेश

प्राचीन अंगदेश मगध के पूर्व और बंग के पश्चिम में स्थित था। कहा जाता है कि आधुनिक मुंगेर और भागलपुर जिलों से ही प्राचीन अंग बना था। अंग की सीमाओं के विषय में विद्वानों में मतभेद है। स्पष्ट प्रमाणों की भी कमी है। सीमाओं का स्पष्ट उल्लेख केवल शक्तिसंगमतन्त्र में मिलता है। वह अंश नीचे दिया जाता है—

वैद्यनाथं समारभ्य भुवनेशान्तगं शिवे ।

तावदंगाभिधो देशो यात्रायां नहिदूष्यते ॥

रामायण में 'अंग' नाम के विषय में एक मनगढ़न्त कथा है, जिसका उल्लेख श्री नन्दलाल दे ने जर्नल आफ् दी राणल एशियाटिक सोसाइटी (१६१४) में करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया है कि बलिया जिले का कोरणाडिह भी अंग के अन्तर्गत था। उनका कहना है कि कोरणाडिह ही प्राचीन कामाश्रम था, जहाँ महादेव जी ने कामदेव को जलाया था, और जिसके कारण अंग का नाम 'अंग' पड़ा। ऊपर उद्धृत शक्तिसंगमतन्त्र से पता चलता है कि वैद्यनाथधाम (आधुनिक सन्थाल परगना) अंग का ही भाग था। वहाँ से प्रारम्भ होकर, अंग 'भुवनेश' तक चला जाता था। कुछ लोगों की राय है कि 'भुवनेश' से उड़ीसा के 'भुवनेश्वर' को समझना चाहिए। किन्तु इस विचार में अनेक आपत्तियाँ उठती हैं। यदि हम 'भुवनेश' को 'भुवनेश्वर' ही मानते हैं, तो 'सुह्र' देश को कहाँ स्थान मिलता है ? अंग और सुह्र का साफ-साफ उल्लेख महाभारतादि ग्रन्थों में आया है, और इसका स्थान अंग और कलिंग के बीच में ही बताया गया है। दूसरी आपत्ति यह है कि उड़ीसा की सीमाएँ बराबर ही विस्तार थीं, और इतिहास किसी ऐसे समय का

वर्णन नहीं करता जब भुवनेश्वर उड़ीसा से बाहर रहा हो। इन कठिनाइयों के समक्ष 'भुवनेश' से 'भुवनेश्वर' समझना उचित नहीं है। श्री नन्दलाल दे ने उपर्युक्त जर्नल में एक नया सुझाव रक्खा है। मुर्शिदाबाद के पूर्व, तीन मील की दूरी पर, एक मन्दिर है जिसे 'भुवनेशी' का मन्दिर कहा जाता है। श्री दे की राय है कि शक्तिसंगमतन्त्र का 'भुवनेश' इसी मन्दिर का द्योतक है। भारत का मानचित्र देखने से यह विश्वसनीय प्रतीत होता है। यद्यपि अंग को बिम्बिसार ने मगध में सम्मिलित कर लिया था, प्रमाणों से मालूम होता है कि अंग के लिए एक कुमार महामात्रा नियुक्त किया जाता था, और इस रीति से अंग उस समय में भी मगध से भिन्न ही रक्खा जाता था। मुसलमान शासकों के समय में भी यह देशखण्ड जिला बिहार से अलग, मुँगेर सरकार के नाम से प्रसिद्ध था। टोडरमल ने जो नापजोख १५८२ ई० में कराई थी और जिसके आधार पर आईन-ई-अकबरी में सरकार मुँगेर का व्योरेवार वर्णन लिखा गया है, उससे मालूम होता है कि मुसलमानों के समय में इस सरकार का केन्द्र चम्पा (चम्पारन) से मुँगेर लाया गया, और इसमें ३१ महाल (पीछे के परगना) थे, और इसकी पश्चिमी सीमा कीयूल नदी, और पूर्वी सीमा तेलियागर्ही और बंगाल थे। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस प्रदेश पर अधिकार किया (१७६५), तब भी यह मुँगेर सरकार ही कहलाता था। १७७३ ई० में 'मुँगेर सरकार' उठा दिया गया, और उस सरकार का अधिकांश भागलपुर कलकटरी में रख दिया गया, और कुछ अंश पटना की कौंसिल का हजूर तहसील बनाया गया।

ऊपर जो कुछ बताया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐतिहासिक समय में बराबर कीयूल नदी ही अंगदेश की पश्चिमी सीमा थी। श्री हेमचन्द्र राय चौधरी ने अपने पोलिटिकल हिस्टरी आफ ऐन्शिएण्ट इण्डिया (Political History of Ancient India) में लिखा है कि अंग और मगध के बीच की सीमा चम्पा नदी थी, और वह चम्पा नदी आधुनिक चान्दन नदी है। राजधानी चम्पानगरी, चम्पा नदी और

गङ्गा पर स्थित थी। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन चम्पा और आधुनिक चान्दन नदी भागलपुर जिले में ही हैं, और वह किसी तरह प्राचीन अंग और मगध की सीमा नहीं हो सकती। श्री नन्दलाल दे भी पश्चिमी सीमा को कोरएटाडिह तक खींच ले जाने में गलती कर गये हैं। कोरएटाडिह शाहाबाद जिले के बक्सर नगर के सामने है, और यह असम्भव-सा प्रतीत होता है कि किसी भी समय अंग मगध को पार कर सका हो। अंग की उत्तरी सीमा के विषय में कोई मतभेद नहीं है—गङ्गा ही उत्तरी सीमा थी। पूर्वी सीमा बंगाल था, इसमें भी मतभेद नहीं हो सकता, चाहे वह सीमा शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार मुर्शिदाबाद को अपने अन्तर्गत रखती हो अथवा तेलियागढ़ी की सीधी रेखा पर ही समाप्त होती हो। दक्षिण की सीमा स्पष्ट नहीं हो पाती। प्रमाणों से अनुमान किया जा सकता है कि आधुनिक संथालपरगना का अधिकांश अंग में ही शामिल था।

यहाँ पर कुछ प्राचीन प्रमाणों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। विधुर-पण्डित-जातक^१ के अनुसार एक समय मगध अंग के ही अन्तर्गत था और राजगृह अंग की ही राजधानी था। महाभारत के शान्तिपर्व (२६. ३२) में लिखा है कि एक बार अंग के राजा धर्मरथ ने गया में यज्ञ किया। इससे कुछ लोगों ने यह अनुमान किया है कि किसी समय में मगध को हराकर अंगों ने उस पर शासन किया होगा, नहीं तो धर्मरथ गया में यज्ञ कैसे करता। महाभारत के सभापर्व^२ में अंग और बंग को एक राज्य बताया गया है। कथासरित्सागर^३ के कुछ स्थलों पर विटंकर नगर को, जो समुद्र के तट स्थित था, अंगराज्य के अन्तर्गत बताया गया है। इन प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि, प्राचीन काल में, दूसरे भारतीय राज्यों के सदृश, अंग की भी सीमा घटती-बढ़ती रहती थी।

(१) जातक सं० ५४५।

(२) ४४. ६।

(३) २५. ३५, २६. ११५, ८२. ३. १६।

अंग का प्रथम उल्लेख अथर्ववेद में पाया जाता है। वहाँ ज्वर को कहा गया है कि वह मागधों, अंगों, मुजवन्तों आदि जातियों में चला जाय। इससे मालूम होता है कि आर्यों की दृष्टि में इन जातियों के लोग नीच और आर्य-समाज से बाहर के थे। रामायण की एक कथा का उल्लेख ऊपर किया गया है^१। महाभारत के अनुसार इस देश का प्रथम राजा 'अंग' नाम का व्यक्ति था। सम्भवतः इसी कारण इसका नाम अंग पड़ा। ऐतरेय-ब्राह्मण^२ में भी 'अंग वैरोचन' नामक मूर्द्धाभिषिक्त राजा का उल्लेख है। एक यह भी कथा पायी जाती है कि ययाति के एक वंशज का नाम था बलि, और बलि के पाँच हुए—अंग, बंग, कलिग, सुह्य और पुण्ड्र। इनमें से प्रत्येक ने एक-एक राज्य की स्थापना की, और प्रत्येक राज्य उसी के नाम से विख्यात हुआ। यह कथा सत्य हो या नहीं, इतना तो स्पष्ट है कि अंग-राज्य बहुत प्राचीन था और इसकी उत्पत्ति की कथा किसी को ठीक-ठीक मालूम नहीं थी और इसी कारण अनेक किम्बदन्तियाँ फैली हुई थीं। अंग की राजधानी का नाम पहले मालिनी^३ था, पीछे चम्पा हो गया; यथा 'चम्पस्य तु पुरी चम्पा या मालिन्यभवत् पुरा'। ऊपर कहा जा चुका है कि यह नगर गङ्गा और चम्पा के तटों पर बसा था। जातकों में चम्पा का नाम 'कालचम्पा' बताया गया है। महाजनकजातक के अनुसार यह नगर मिथिला से ६० कोस की दूरी पर था। उसी जातक में उसके प्राचीनों, द्वारों और दुर्गों का वर्णन पाया जाता है। जातकों के समय में चम्पा, भारत के सर्वश्रेष्ठ पाँच नगरों में गिनी जाती थी—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ति, साकेत और वाराणसी।

अंग-राजवंश की वंशावली पुराणों में पायी जाती है, किन्तु इसकी वंशावलियाँ एक-दूसरे से मेल नहीं खातीं। पाजिट्य के अनुसार, मत्स्य और वायु-पुराणों में दी हुई वंशावलियाँ जाँच-पड़ताल के बाद अधिक

(१) बालकाण्ड २३।

(२) द. २२।

(३) मत्स्य-पु० ४८, ६७। वायु-पु० ६६, १०५-६, महा० १२. ५, ६,

अंशों में ठीक पायी गयी हैं। दूसरे पुराणों की वंशावलियों के विषयों में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अंग-वंशावली के विषय में दोनों पुराणों में कुछ भेद होते हुए भी यथेष्ट समानता पायी जाती है। मत्स्य-पुराण के अनुसार इस वंश का सर्वप्रथम राजा था बलिधैरोचन। उसका पुत्र था अंग; अंग का पुत्र हुआ दधिवाहन; दधिवाहन का दिविरथ; दिविरथ का धर्म्मरथ; धर्म्मरथ का चित्ररथ; चित्ररथ का सत्यरथ; सत्यरथ का दशरथ और दशरथ का रोमपाद। रोमपाद के एक पुत्री हुई शान्ता, और एक पुत्र हुआ चतुरंग। चतुरंग का पुत्र हुआ पृथुलक्ष; पृथुलक्ष का विख्यात चम्प; चम्प का हय्यक; हय्यक का भद्ररथ; भद्ररथ का वृहद्रथ; वृहद्रथ का विश्वजित् जन्मेजय; जन्मेजय का अंग (द्वितीय); अंग का कर्ण और कर्ण के वृषसेन तथा पृथुसेन। ऊपर बताया गया है कि एक मूर्द्धाभिषिक्त राजा 'अंगधैरोचन' का उल्लेख ऐतरेय-ब्राह्मण और महाभारत में मिलता है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में अंग के दधिवाहन नामक एक राजा का उल्लेख मिलता है। पुराणों के अनुसार दधिवाहन अंग (प्रथम) का पुत्र था, किन्तु जैन ग्रन्थों के अनुसार वह महावीर जिन और कौशाम्बी के शतानीक का समसामयिक था। महागोविन्द-सुत्तान्त में राजा धत्तरट्ट (धृतराष्ट्र) का उल्लेख है। बौद्ध ग्रन्थों में एक रानी गग्गरा और उसके खुदवाये हुए भील 'गग्गरा' की कथा है। श्रीहर्ष की प्रियदर्शिका के अनुसार अंग के एक राजा का नाम दृढवर्मा था, और वह अपने सिंहासन से न्युत हो गया था; किन्तु कौशाम्बी के प्रसिद्ध राजा उदयन ने उसे सहायता देकर फिर सिंहासन पर बैठा दिया। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अंग का अन्तिम राजा था ब्रह्मदत्त, जो मगध के राजा भट्टिय और बिम्बिसार का समसामयिक था। रामयण में राजा रोमपाद की विस्तृत कथा है, जो आगे प्रसंगानुसार दी जायगी। इसके अनुसार रोमपाद इक्ष्वाकुवंश के राजा दशरथ के समसामयिक थे। दोनों राजाओं में घनिष्ठ मित्रता थी और दशरथ शान्ता को अपनी ही बेटी समझते थे (भवभूति—उत्तररामचरितम्)।

ऊपर दी हुई बातों से स्पष्ट है कि बौद्ध और जैन ग्रन्थों की बातें पौराणिक वंशावली से मेल नहीं खातीं। यदि दधिवाहन प्रथम अंग का पुत्र था, तो वह शतानीक का समसामयिक नहीं हो सकता; क्योंकि पुरु-वंशावली में शतानीक महाभारत युद्ध के बाद बताया गया है। किन्तु बौद्ध और जैन ग्रन्थों के अनुसार, दधिवाहन न केवल शतानीक का समसामयिक था, बल्कि वह महावीर जिन के समय में भी था। बौद्ध कथा यह है कि शतानीक ने अंग पर आक्रमण किया था। जैनों के अनुसार इस आक्रमण के समय उसकी बेटी चन्दना या चन्दबाला डाकुओं के हाथ में पड़ गयी, किन्तु उस पर भी उसने जैन भिक्षुणी का ही जीवन बिताया। इतिहासज्ञों ने मान लिया है कि बिम्बिसार (मगध), उदयन (कौशाम्बी), प्रद्योत (अवन्ति) और भगवान बुद्ध और महावीर जिन समसामयिक थे। बिम्बिसार ने ही अंग के अन्तिम राजा ब्रह्मदत्त को मारकर अंग के राजवंश का अन्त कर दिया था। इस स्थिति में, महावीर जिन के समय में अंग के सिंहासन पर दधिवाहन नामक राजा का होना तर्कसंगत नहीं जँचता। इसी प्रकार उदयन के समय में राजा दृढवर्मा असम्भव-सा प्रतीत होता है।

रामायण (बा० कां० ६) में राजा रोमपाद की कथा कुछ विस्तार से दी गयी है। जब वे अङ्ग के सिंहासन पर थे, उस देश में १२ वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। देश भर में हाहाकार मच गया और राजा बहुत चिन्ता में पड़े। उन्होंने श्रोत्रिय, निष्ठावान ब्राह्मणों को एकत्रित किया और अनावृष्टि से मुक्ति पाने का उपाय पूछा। उन लोगों ने बताया कि यदि विभाण्डक ऋषि के पुत्र ऋष्यशृङ्ग लाये जायँ तो वृष्टि अवश्य हो। उन लोगों ने परामर्श दिया कि ऋष्यशृङ्ग को किसी तरह लाकर उसका विवाह शान्ता से कर दिया जाय। इस परामर्श के अनुसार राजा ने गणिकाओं को भेजकर ऋष्यशृङ्ग को फाँस मँगवाया। और उनके आते ही वर्षा होने लगी। ऋष्यशृङ्ग ने ही दशरथ का पुत्रेष्टि-यज्ञ कराया था। रामायण की कथा के अनुसार रोमपाद राम से भी पहले हुए थे, अतः

वे दशरथ के समसामयिक हुए। वंशावली के अनुसार दधिवाहन और रोमपाद में छः पीढ़ियों का अन्तर था। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिए २० वर्ष की अवधि रक्खी जाय, तो रोमपाद और दधिवाहन में कम-से-कम १२० वर्ष का अन्तर होना चाहिये। यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि वंशावली के रोमपाद दूसरे थे और रामायण के दूसरे; क्योंकि एक ही वंश में दो ऐसे व्यक्तियों का होना असम्भव है, जिनके अपने नाम तो एक हों ही, उनकी लड़कियों के नाम भी वही हों। इन बातों से स्पष्ट है कि हम जातकों की कथाओं के ही आधार पर, न तो समय स्थिर कर सकते हैं और न अनुक्रम ही। वंशावली पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि यह वंशावली महाभारत के युद्ध तक ही लिखी गयी है। महाभारत के समय में कर्ण ही राजा थे, और उनके पुत्र उसी लड़ाई में मारे गये। यद्यपि वंशावली के कर्ण के पिता का नाम अंग (द्वितीय) दिया गया है, और महाभारत का कर्ण कुन्ती का पुत्र था जिसे अंग राजवंश के अधिरथ ने पोसा था। यह सम्भव है कि कौरवों ने अंग (द्वितीय) को हरा कर ही कर्ण को अंग का राज्य दिया हो, और कर्ण उसका बेटा न होकर उसका उत्तराधिकारी होने के कारण ही वंशावली में दिखाया गया हो। पार्जितर के अनुसार, पौराणिक वंशावलियों में ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। इस दृष्टि से वंशावली में और रामायण-महाभारत की कथाओं में कोई भेद नहीं रह जाता। वंशावली में दिये हुए धर्मरथ ने गया के विष्णुपद में यज्ञ किया था (महा० शा० २६, ३५)। इससे अनुमान किया जाता है कि इस राजा के समय में मगध अंगों के अधीन था। इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, यदि हम धर्मरथ के समय पर विचार करें तो धर्मरथ, लोमपाद से चार पीढ़ी पहले हुए। उस समय वसु के वंशज राजगृह के सिंहासन पर थे। महाभारत के समय में जरासन्ध और उसका पुत्र सहदेव राजा थे। जरासन्ध का पिता बृहद्रथ था, जिसने बर्हद्रथ वंश को राजगृह में स्थापित किया था। यह बात संकेत करती है कि उस समय के पहले से ही वसु के वंशज पराक्रमहीन हो गये होंगे।

इसलिए राजगृह का धर्मरथ के अधीन होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। लोमपाद से तीसरी पीढ़ी में चम्प का नाम आता है। यह निश्चय ही बहुत प्रतापी राजा हुए होंगे, क्योंकि राजधानी का नाम 'मालनी' से बदल कर 'चम्पा' रखा गया। जन्मेजय भी विशिष्ट राजा हुए होंगे, नहीं तो उन्हें विश्वजित् की उपाधि नहीं मिलती।

जब हम ऐतिहासिक काल पर विचार करते हैं, तब हम बौद्ध और जैन प्रमाणों से पाते हैं कि भारत के प्रधान १६ जनपदों में अंग का नाम सर्वप्रथम आता है। ये जनपद (राष्ट्र) थे—अंग, मगध, कोशल, काशी, विदेह, कौशाम्बी, अवन्ति, शाक्य, लिच्छवी, मल्ल, भद्र, कोलिय, गान्धार, काम्बोज, यौधेय और शिवि। इस समय वृहद्रथ के वंश का मगध में अन्त हो चुका था और शैशुनाग वंशज राजगृह के सिंहासन पर स्थान पा चुके थे। अवन्ति में वीतिहोत्रवंश, कौशाम्बी में पौरववंश और श्रावस्ति में इक्ष्वाकुवंश राज कर रहे थे। अंग और मगध के बीच द्वेष चल रहा था, और चाम्पेय-जातक के अनुसार, उस युद्ध का प्रारम्भ हो चुका था जो अंग के राष्ट्र को ही नष्ट करनेवाला था। द्वेष के कारण का कहीं उल्लेख नहीं है। किन्तु, यदि महाभारत की कथा सत्य है कि धर्मरथ ने विष्णुपद में यज्ञ किया था, और यह अनुमान यथार्थ है कि एक समय अंगों ने मगध को अंग में मिला लिया था, तो कारण खोजने की आवश्यकता नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि शैशुनाग वंशवालों ने अपना नैतिक उद्देश्य यही बना लिया था कि अंग को जैसे हो मगध में मिला लेना होगा। जब बिम्बिसार का पिता भट्टिय राजगृह के सिंहासन पर था, अंग के राजा थे ब्रह्मदत्त। उस समय यह युद्ध अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। एक बार ब्रह्मदत्त ने भट्टिय को भलीभाँति हरा दिया। इसका उल्लेख जातकों में पाया जाता है। किन्तु, भट्टिय हार माननेवाला राजा नहीं था। कब और किस युद्ध में श्रेणी बिम्बिसार ने ब्रह्मदत्त को हरा कर उसे मार डाला, इसका ठीक पता नहीं है; किन्तु जब भट्टिय का देहान्त हुआ तब बिम्बिसार अंग का महामात्र था और वह राजगृह

आकर सिंहासन पर बैठा। इसके बाद अजातशत्रु अंग का महामात्र हुआ। इस समय से अंग परतन्त्र हो गया और वह फिर स्वतन्त्र नहीं हो पाया।

बिम्बिसार के समय से, कम-से-कम, जब तक गुप्तों का साम्राज्य रहा, अंग बराबर मगध का एक बड़ा भाग बना रहा। किन्तु छठीं शताब्दी के मध्य भाग में सम्भवतः कुछ अंशों पर कर्ण-मुवर्ण के राजाओं का अधिकार हो गया था। इसी समय के विषय में महाकूट-स्तम्भलेख बताता है कि चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन ने अंग, बग और मगध पर विजय पायी। इसी शताब्दी में जौनपुर और बाराबांकी के मौखारी सामन्त राजा अपनी शक्ति बढ़ाने लगे थे, और ईशानवर्मा इतना बल संचय कर चुका था कि उसने अन्ध्रों, सूलिकों और गौड़ों को हरा दिया। उसके शिलालेखों से यह नहीं मालूम होता कि वह मगध के गुप्त-सम्राटों से लड़ा, किन्तु यह स्पष्ट है कि उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इसके बाद से मौखारियों और गुप्तों में द्वेष उत्पन्न हो गया, यद्यपि ईशानवर्मा की माता गुप्तवंश की ही थीं। ईशानवर्मा के पुत्रों ने मगध के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया। गुप्तवंश के राजाओं ने कर्ण-मुवर्ण के राजाओं से सन्धि करके मौखारियों का नाश कर दिया। जब हर्ष कन्नौज के सिंहासन पर बैठे, तब उन्होंने मगध और बंग को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस तरह अंग भी उनके साम्राज्य का भाग बन गया। हर्ष की मृत्यु के अनन्तर, मगध और अंग दोनों ही गौड़ राजाओं के अधीन हो गये। जब सेनवंश के राजाओं को बख्तियार खिलजी ने हराया, तब मगध के साथ-साथ अंग भी मुसलमानों के साम्राज्य में चला गया। ऊपर लिखा जा चुका है कि मुसलमानी और अङ्गरेजी काल में भी अंग, मगध (बिहार) से अलग 'सराकर' समझा जाता था। इस समय अंग विभाजित होकर तीन जिलाओं में बँट गया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक समय में अंग के निवासी—आर्यसभ्यता से बाहर के समझे जाते थे। उनके लिए 'वाहि,' 'क

‘ब्राह्म्य’ आदि शब्द व्यवहृत होते थे। महाभारत के समय तक वे अधार्मिक ही समझे जाते थे (आदि० प० १३७, क० प० ४२)। वहाँ की हीनता दिखाते हुए शल्य कहता है कि वहाँ के ब्राह्मण कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य, कभी शूद्र बन जाते थे, और फिर जब जी आता ब्राह्मण बन बैठते थे; वे दुखियों का साथ नहीं देते थे, और स्त्रियों और बच्चों को बेचा भी करते थे। यद्यपि ये बातें शल्य के मुखसे कहलायी गयी हैं—जब उसमें और कर्ण में वायुद्ध हो रहा था—तथापि इस वर्णन में कुछ सत्य अवश्य होगा। किन्तु जब हम प्रागैतिहासिक समय को पार कर आते हैं, तब हम अंगों को एक सभ्य, सुशिक्षित और श्लाघ्य समाज के रूप में पाते हैं। चम्पानगरी श्रीमहावीरजिन को अत्यन्त प्रिय थी, और वे अनेक वर्षों तक चातुर्मास वहीं बिताया करते थे। भगवान बुद्ध भी वहाँ जाया करते थे। अंग की स्वतन्त्रता के समय में, वहाँ के सामाजिक और नैतिक संघटन का कोई व्यौरेवार वर्णन नहीं मिलता। वहाँ के लोग शिक्षा कहाँ पाते थे, इसका भी ठीक पता नहीं चलता। कुछ विद्वानों की राय है कि विक्रमशिला का विश्वविद्यालय अंग में ही था।

प्रोफेसर बनर्जी-शास्त्री की धारणा है कि विक्रमशिला विश्वविद्यालय, नालन्दा के ही आसपास में था। महापंडित श्री राहुत सांकृत्यायन के अनुसार, यह विश्वविद्यालय भागलपुर जिले के सुत्तानगंज में स्थित था। श्री स्वामी प्रणवानन्द के अनुसार, यह कहलगाँव के पास ओदिया और अन्तीचक गाँवों में था। सभी स्थानों पर बौद्धकालीन मकानों के भग्नावशेष मिलते हैं। इस समय यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि विक्रमशिला यथार्थतः कहाँ पर था। यदि यह अंग देश में ही था, तब अंग की मध्यकालीन शिक्षाप्रणाली के विषय में हमें कुछ ज्ञान हो सकता है। किन्तु, बौद्ध और वैदिक समयों की शिक्षापद्धति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

[नवम्बर १९४६]

प्राचीन भारतीय इतिहास की कुछ समस्याएँ

यद्यपि 'इतिहास' का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है, और कौटिल्य ने अपने विख्यात 'अर्थशास्त्र' की प्रथम 'वार्ता' वाले श्लोक में इसकी गणना पट्ट विद्याओं में की है, तथापि, खेद की बात है कि, आज-तक प्राचीन भारत के इतिहास की एक भी प्रामाणिक पुस्तक प्राप्त नहीं हुई है। कहा जाता है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की दुष्टता से इतिहास के सभी ग्रन्थ जला दिये गये। पार्जिटर का मत है कि राजवंशों की वंशावलियाँ और प्रशस्तियाँ क्रमबद्ध रूप से सूतों-द्वारा लिखी जाती थीं और राज-दफ्तारों में सुरक्षित रहती थीं; किन्तु एक सत्य आया जब या तो सूत इस योग्य न रहे अथवा उनका अन्त हो गया, और यह कार्य ब्राह्मणों के हाथ में चला गया। उनकी धारणा है कि ब्राह्मणों में ऐतिहासिक विवेक का अभाव था और कृतियों की श्रेष्ठता दिखाना उन्हें अभीष्ट भी नहीं था; इन्हीं कारणों से उन लोगों ने राजवंशावलियों और प्रशस्तियों की यथोचित रक्षा नहीं की, और उन्हें अपने पुराणों के एक कोने में डालकर गपोड़ों और आध्यात्मिक प्रश्नों के दलदल में गाड़-सा दिया। इसका एक फल यह हुआ कि परस्पर-विरोधी वंशावलियाँ लिख दी गयीं, जिनमें न समय का, न स्थान का, न सत्य का ही विचार रह गया। इतिहास के ग्रन्थों के अभाव में, प्राचीन भारत का इतिहास अटकलों और भावुकताओं का क्षेत्र हो गया है।

अर्वाचीन इतिहास के लिए जैसे प्रमाणों की प्राप्ति होती है, वैसे प्रमाण हमें प्राचीन भारतीय इतिहास के लम्बे-लम्बे युगों के लिए नहीं

मिलते। उदाहरणार्थ, बुद्धदेव और महावीरजिन के जन्म के पहले, और मोहन-जो-दरो के समय के बाद इस लम्बे समय के लिए न तो कोई सिक्के, न शिलालेख, न विदेशी समसामयिक उल्लेख ही प्राप्त हैं। प्राप्त हैं तो केवल वैदिक साहित्य, कतिपय सूत्रग्रन्थ, और पीछे की लिखी हुई पौराणिक वंशावलियाँ। इनकी ऐतिहासिक उपयोगिता के विषय में विद्वानों में मतभेद तो है ही, वैदिक साहित्य के अर्थ लगाने में और उनसे प्राप्त सामग्रियों के ऐतिहासिक महत्व के निर्धारण में भी मतभेद है। पार्जिटर का मत है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पौराणिक वंशावलियों का अधिक महत्व है, क्योंकि वेदों को तो ब्राह्मणों ने धर्म-ग्रन्थ के रूप में बनाया था, और उन्हें ऐतिहासिक बुद्धि थी नहीं, इससे वेदों में बिखरे ऐतिहासिक उल्लेखों का बहुत कम महत्व है। उनके आधार पर न तो काल, न स्थान, न अनुक्रम ही स्थिर किया जा सकता है। ये तीन बातें इतिहास के लिए आवश्यक हैं, और इन बातों पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त युग के इतिहास के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय समसामयिक सामग्री नहीं है, जो भारतीय हो।

भारत से दूर एनेटोलिया में ई० पू० पन्द्रहवीं शताब्दी का एक सन्धि-पत्र (बो जाक् जई लेख) मिला है, जिसमें इन्द्र, वरुण, और नासत्यों का उल्लेख पाया जाता है। यह सन्धि मितान्नी (Mittanni) और हिट्टाइट (Hittite) जातियों के राजाओं में हुई थी। इस लेख में उपर्युक्त आर्य्य देवताओं को साली बनाकर सन्धि पक्की की गयी है। इस लेख से यह अनुमान किया जाता है कि ये जातियाँ वैदिक देवताओं की पूजा करती थीं, किन्तु वे आर्य्य जाति की थीं या नहीं, इसमें मतभेद है। दूसरा महत्वपूर्ण अनुमान यह होता है कि वैदिक धर्म ई० पू० १५वीं शताब्दी से अवश्य प्राचीन था। प्राचीन बैबिलोन, असुर और फारस (ईरान) के इतिहासों को देखने से अनेक मनोरंजक प्रश्न उठते हैं, जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकता; किन्तु प्रसंगवश इतना कह देना आवश्यक है कि ई० पू० १५वीं शताब्दी में हम आर्य्य-भाषा-भाषी जातियों

को कैस्पियन समुद्र से भारत तक फैला पाते हैं, और सम्भवतः रोमन और ग्रीक आर्य भी, इटली और ग्रीस में पहुँच चुके थे। यद्यपि इतिहास ने अभी तक यह निश्चय नहीं किया है कि ग्रीकों ने कब ग्रीस के आदिम निवासियों को, जो सम्भवतः क्रीटन (माइनोअन) सभ्यता के अन्तर्गत थे, हराकर स्वयं शासन करना प्रारम्भ कर दिया; किन्तु, यदि हम एशिया और यूरोप का मानचित्र मिलाकर देखें, तो हमें मालूम होगा कि एक समय था जब आर्य-भाषा-भाषियों की एक बड़ी धारा-सी, भारत से आरम्भ होकर ग्रीस और इटली तक बहती थी, और उसे अगणित युगों तक अपने दक्षिण और उत्तर स्थित सेमाइटों (Samites) और मंगोलों से लड़ते रहना पड़ा था। यह एक ऐसी बात है जो आधुनिक ऐतिहासिक सिद्धान्तों और मान्यताओं को हिलाने वाली है; किन्तु इस पर इतिहासज्ञों ने पूर्ण विचार नहीं किया है, न इसकी जाँच-पड़ताल का प्रयत्न ही किया है।

मोहन-जो-दरो की खुदाई, प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए एक क्रान्तिकारी घटना थी, किन्तु अभी तक इतिहासकारों को इससे प्राप्त सामग्रियों का यथोचित अध्ययन करने, और कोई दृढ़ निश्चय पर पहुँचने का अवकाश ही नहीं मिला है, यद्यपि २०-२२ वर्षों का समय कम नहीं होता। इतने समय में केवल गिने-गुथे विद्वानों ने ही इस ओर ध्यान दिया है, जैसे, सर जॉन मार्शल और उनके साथी; रेवरेण्ड हेरस आदि। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि खुदाई से प्राप्त वस्तुओं ने भारतीय इतिहास का ओर-ओर बहुत विस्तृत कर दिया है और यह भी स्पष्ट हो गया है कि मोहन-जो-दरो की सभ्यता उच्च कोटि की थी। ऐसी उच्च कोटि की सभ्यता एक दिन में नहीं विकसित होती; उसके विकास के लिए अनेक युगों की आवश्यकता होती है; इसलिए भारतीय सभ्यता का प्रारम्भ अननुमेय अतीत के अन्धकार में हुआ होगा। इसके अलावा मोहन-जो-दरो ने अनेक नयी गुत्थियाँ भी पैदा कर दी हैं अर्थात्, क्या मोहन-जो-दरो की सभ्यता आर्यों की थी या अनार्यों की; वहाँ से प्राप्त

चित्र-लिपि संस्कृत है अथवा कोई अनाय्य-भाषा ? इत्यादि । भारतीय तथा आर्य जाति के इतिहास के लिए ये प्रश्न अत्यन्त महत्व के हैं, क्योंकि जब तक इनका यथार्थ उत्तर नहीं मिलता, तब तक प्राचीन भारत के इतिहास का विश्व-इतिहास में स्थान और उससे सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता ।

पश्चिमीय इतिहासकार, ग्रीक और रोमन ऐतिहासिक रूढ़ियों से प्रभावित होकर, भारतीय परम्परागत कथानकों और विश्वासों की अवहेलना करते आये हैं, और भारतीय इतिहास को उन्हींके समकालीन और समान विकास-वाला बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं । हमारे देशी इतिहास-लेखक भी उन्हींका अनुसरण करते हैं । उनकी दृष्टि में यह असम्भव-सा प्रतीत होता है कि भारतीय सभ्यता का इतिहास ग्रीक और रोमन सभ्यताओं के इतिहास से प्राचीन हो सकता है । कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया (Cambridge History of India) के अनुसार वैदिक काल ई० पू० १२०० से ८०० तक, ब्राह्मण-काल ८०० से ६०० तक, सूत्र-काल ६०० से ३०० तक होना चाहिये । बौद्ध और जैन काल का प्रारम्भ सूत्र-काल में ही होता है । इस दृष्टिकोण का एक और भी कारण है कि जब १८वीं और १९वीं शताब्दी के अंगरेज, जर्मन, रूसी आदि विद्वान् संस्कृत का अध्ययन करने लगे, और इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि संस्कृत तो यूरोप की सभी मुख्य भाषाओं की माता या भगिनी है, तो उन्होंने यह अनुमान किया कि निश्चय ही भारतीय आर्य भारत में बाहर से आये । इस अनुमान की पुष्टि के लिए अनेक युक्तियाँ उपस्थित की गयीं । प्रातःस्मरणीय लोकमान्य तिलक ने एक ग्रन्थ (The Arctic Home of the Vedas) लिखकर आर्यों का मूलनिवास उत्तरी ध्रुव माना । वेदों का अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि जिन ऋषियों ने ऋग्वेद का सृजन किया वे केवल पंजाब को ही जानते थे, भारत के दूसरे प्रदेशों का ज्ञान उन्हें पीछे हुआ, क्योंकि उनका उल्लेख पीछे के बने हुए ग्रन्थों में ही मिलता है । अनेक तर्कों में से एक उपर्युक्त तर्क से भारतीय आर्यों का बाहर से आना सिद्ध

समझा जाता है। यदि भारतीय आर्य बाहर से आये, तो ग्रीकों और रोमनों का ग्रीस और इटली में उनका पहले पहुँचना स्वाभाविक ही होगा। किन्तु ऐसी युक्तियाँ ठीक नहीं जँचती और वे एक-देशीय भी हैं। यद्यपि ऋग्वेद के ऋषियों को पंजाब भर ही का ज्ञान था। वेदों में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता कि आर्य-जाति ने किसी दूसरे देश को छोड़कर काफिलों में इस देश की यात्रा की थी। यहूदियों के बाइबिल में उस जाति की सभी विपत्तियों और भ्रमणों का वर्णन स्पष्ट रूप से पाया जाता है जो उसे यात्रा के सिलसिले में उठानी पड़ी थी। अमेरिकन पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने प्राचीन माया, इन्का और पूर्व-इन्का जातियों के भ्रमणों का संकेत उनके कथानकों और ध्वंसावशेषों में पाया है। तब यह कैसे माना जाय कि जिन वेदों की रक्षा के लिए इस जाति के नेताओं ने अपनी सारी बुद्धिमानी लगा दी, और जिसकी महानता वे मानते रहे थे, उनमें एक देश को छोड़कर दूसरे देश की यात्रा के समान महत्वपूर्ण बात का उल्लेख—स्पष्ट अथवा गौण रूप में वे नहीं करते। उन्हीं इतिहासकारों के अनुसार ऋग्वेद पंजाब में ही लिखा गया, और इन ऋचाओं में, अनाय्यों के साथ जो युद्ध हुए उनकी ओर संकेत पाया जाता है। यदि इन संकेतों में ऐतिहासिकता है, और यदि बाहर से आनेवाली बात उन ऋषियों को ज्ञात थी, तो उसकी ओर संकेत अवश्य मिलता। यह दूसरी बात है कि शायद वह यात्रा वैदिक ऋषियों के समय से इतना पहले हुई हो कि उसकी स्मृति तो नष्ट हो ही गयी थी, किम्बदन्तियाँ भी नष्ट हो गयी थीं, किन्तु जब हम इस जाति के वृहत् साहित्य-भाण्डार—वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, पुराणों, आख्यायिकाओं आदि—को देखते हैं, तो यह असम्भव-सा प्रतीत होता है कि इस जाति ने ऐसी महत्वपूर्ण बात को भुला दिया होगा। इन विचारों से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वानों का निर्धारित काल-विभाग—ई० पू० १२०० से ८००—जिसमें समस्त वैदिक काल घुसाया जाता है, किसी तरह ग्राह्य नहीं हो सकता।

इस दृष्टिकोण की पुष्टि मोहन-जो-दरो की खुदाई और उपर्युक्त आर्य-भाषा-पाषण्डियों के इटली से भारत तक के फैलाव से होता है। मोहन-जो-दरो का सब से नीचा, अतएव प्राचीनतम स्तर ई० पू० ४ सहस्र वर्षों का बताया गया है। बैबिलन के उत्थान का समय ई० पू० ४००० से २३०० तक, और असीरिया (असुर) का २३०० से ६०० तक बताया गया है। इन प्रमाणित बातों का उपर्युक्त मान्यताओं पर क्या प्रभाव होत' है, यह देखने के पहले हमें सर जान मार्शल और उनके सहकारियों के मतों को जान लेना आवश्यक है। 'मोहन-जो-दरो और सिन्धुघाटी की सभ्यता' (Mohenjodaro and the Indus Valley civilisation) नामक बृहद् पुस्तक में मार्शल साहब लिखते हैं—

“आम तौर से यह समझा जाता था कि भारतीय आदिम निवासियों की सभ्यता आर्यों की सभ्यता की अपेक्षा अत्यन्त नीची श्रेणी की थी। . . . ऋग्वेद की ऋचाओं से जो उनके चित्र प्राप्त होते हैं, वे एक कृष्णत्वक, चिपटी नाकवाली असभ्य जाति के हैं, जो आर्यों से भाषा और धर्म में उतनी ही भिन्न थी जितनी शारीरिक बनावट में। . . . उनके गढ़ों का उल्लेख मिलता है, किन्तु वैदिक विद्वानों की दृष्टि में वे 'गढ़', जब-तब शरण पाने के स्थान थे और केवल मिट्टी के बने होते थे, . . . क्योंकि, आर्यों की ग्रामीणवस्था देखते हुए . . . यह असम्भव समझा जाता था कि वे ही प्राचीन, तिरस्कृत दास-जातियाँ, सुचारु-निर्मित नगरों वा गढ़ों में रहती थीं, अथवा उसी समय अन्य बातों में भी उच्च सभ्यता को प्राप्त कर चुकी थीं। . . . इसकी कल्पना भी नहीं होती थी कि ५ हजार वर्ष पहले ही, जब कि आर्यों का नाम-निशान भी नहीं था, भारत के अन्य भागों में हो वा न हो, कम से कम, पंजाब और सिन्ध में, एक उच्च कोटि की सभ्यता व्यापक रूप से फैली हुई थी, जो मेसोपोटेमिया और मिस्र की सभ्यता से मेल खाती थी, और अनेक अंशों में उनसे भी श्रेष्ठ थी।”

आगे बढ़ने के पहले ऊपर की कुछ मौलिक मान्यताओं को स्पष्ट कर देना ठीक है। पहली मान्यता यह है कि वैदिक ऋषियों ने अपने शत्रुओं—दासों, दस्युओं आदि को 'असभ्य' कहा है। दूसरी बात यह है कि मोहन-जो-दरो के समय आर्यों का पता नहीं था। इस अनुमान का आधार वही आर्यों के भारतप्रवेश वाली बात है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। कैम्ब्रिज हिस्टरी के अनुसार ऋग्वेद में दासों के समाज के विषय में कुछ भी नहीं पाया जाता है; केवल उनके 'गढ़ों (पुर)' और मवेशियों के बड़े झुण्डों का उल्लेख मिलता है। उनके लिए 'मृधवाचः' और 'अनासः' शब्दों का व्यवहार किया गया है। इन शब्दों से 'असभ्यता' नहीं निर्दिष्ट होती। वे वैदिक देवताओं की पूजा नहीं करते थे, इससे यदि आर्य उन्हें पतित समझते थे वा उनके लिए हेय शब्दों का प्रयोग करके अपना तिरस्कार प्रकट करते थे, तो वे असभ्य नहीं समझे जा सकते। अंगरेजों ने जर्मनों को 'हूण' कहा था, तो क्या हम अनुमान कर लें कि जर्मन असभ्य है ?

सर जॉन इस सिद्धान्त पर पहुँचते हुए, कि हरप्पा और मोहन-जो-दरो के प्राचीनतम स्तर में कैल्कोलिथिक युग (वह युग जिसमें पत्थर और धातु का समान रीति से व्यवहार किया जाता था।) के अवशेष मिले हैं, कहते हैं "ये सिद्ध करते हैं कि ई० पू० तीसरी और चौथी सहस्राब्दी में सिन्धु-घाटी के निवासियों में उच्च कोटि की सभ्यता थी, जिसमें आर्यों का कुछ भी प्रभाव नहीं द्रष्ट होता।" उनका समाज नागरिक है, उनका धन मुख्यतः वाणिज्य और कृषि से पैदा होता था, और उनके वाणिज्य का क्षेत्र विस्तृत था। वे गेहूँ, जौ और खजूर उपजाते थे। वे ककुत्स्थ वाले और छोटी सींग वाले सांड, भैंसा, भेड़, शूकर, कुत्ता, हाथी और ऊँट पालते थे; किन्तु सम्भवतः उन्हें बिल्ली और घोड़े ज्ञात नहीं थे। यातायात के लिए उनकी पहियादार सवारियाँ थीं जिन्हें निश्चय ही बैल खींचते थे। वे धातुओं पर काम करने में कुशल थे और उनके पास सोना, चाँदी और ताम्बा बहुतायत से था। सीसा

और टिन का भी व्यवहार होता था, किन्तु टिन केवल पीतल बनाने में व्यवहृत होता था। वे सूत काटना और बुनना भी जानते थे। उनके युद्ध के अस्त्र थे—तीर, धनुष, बरखा, परशु, गदा और खड्ग (dagger)। उन्हें तलवार का ज्ञान नहीं था। टांगा, हँसुआ, आरा, छेनी, छुरा, छुरी आदि उन्हें प्राप्त थे; किन्तु सभी ताम्बे और पीतल के होते थे। उन्होंने एक चित्र-लिपि का भी निर्माण किया था। वे खिलौने एवं छोटी-छोटी मूर्तियाँ बनाते थे और रूई के वस्त्र उस समय केवल उन्हीं के देश में व्यवहार में आते थे।”

हरप्पा और मोहन-जो-दरो के निवासियों के धर्म के विषय में सर जॉन लिखते हैं—“.....सब बातों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका धर्म ऐसा शुद्ध भारतीय था कि वह आधुनिक हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं कहा जा सकता, कम से कम उस अंश में, जो निर्जीवाँ में भी आत्मा मानता है (animism), शिव और मातृ-शक्ति की पूजा करता है और साधारण जनता में पूर्ण रूप से व्याप्त है। मोहन-जो-दरो और हरप्पा से जो विविध बातें प्रकट हुई हैं, उनमें किसी का उतना महत्त्व नहीं है जितना इस बात का कि शिव-पूजन का इतिहास कैल्कोलिथिक युग तक, या उससे भी पूर्व तक गया है।

‘मोहन-जो-दरो और सिन्धु-घाटी की सभ्यता’ के एक भाग में नरमुण्डों और कंकालावशेषों की जाँच-पड़ताल की गयी है। पृष्ठ ४२, १०७-६ में यह सिद्धान्त निकाला गया है कि मोहन-जो-दरो के निवासी चार, और हरप्पा के पाँच जातियों के थे; किन्तु इनमें कोई भी आर्य जाति का नहीं था। आगे चलकर कहा गया है, ‘अन्त में यह देखना है कि ऐसा कोई प्रमाण है या नहीं कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता के निर्माताओं को आर्य जाति का समझा जाय।’... वैदिक आर्यों की शारीरिक गठन के ज्ञान के विषय में जो कठिनाइयाँ हैं उनका उल्लेख करके लेखक ने कहा है (पृष्ठ ११०-१२२):-‘अभी तक यह निश्चित नहीं हुआ कि वे (आर्य) नोर्डिक (Nordic, नारवे के आर्यों के समान), या भूरा

(वा श्यामला) मेडिटरेनियन्स (Mediterraneans जैसे ग्रीक, रोमन), या चौड़ी खोखड़ी वाले अल्पाइन (Alpines स्विस् की तरह), वा तीनों के मिश्रण थे । इसी कारण यद्यपि मोहन-जो-दरो से प्राप्त मानवावशेष इस विषय में सहायक नहीं होते, तथापि सिन्धु-वाटी और वैदिक सभ्यताओं की तुलना करने पर निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं था । यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि जिस जाति में मृतक जलाया जाता हो, उसमें ऐसे अवशेषों का ढूँढना हास्यास्पद ही है ।

सर जॉन आर्य्य और सिन्धु-वाटी की सभ्यताओं की विभिन्नता पर जोर देते हैं । वे कहते हैं कि वैदिक आर्य्य कुछ अंशों में पशु-पालक और कुछ अंशों में कृषक थे, वे नागरिक जीवन की उलझनों से अनभिज्ञ थे । वे भोपड़ों में रहने वाले, नगरों की घनी वस्तियों, अट्टालिकाओं, स्नान-गृहों, कूपों, पुष्करिणियों, और नगरसुलभ परिष्कृत जीवन को भला क्या जानें ! वे वैदिक काल के अन्त में चाँदी और लोहा को जानने लगे, किन्तु मोहन-जो-दरो के निवासी लोहा से अन्त तक अपरिचित रहे, और वे सोना कम एवं चाँदी अधिक व्यवहार में लाते थे । वैदिक आर्य्य गदा नहीं जानते थे, किन्तु वे कवच पहनते थे । मोहन-जो-दरो के निवासी गदा जानते थे, और उमका उसी तरह व्यवहार करते थे, जिस तरह मिस्र और मेसोपोटेमिया के निवासी ; और उन्हीं की तरह, वे कवच नहीं जानते थे, न व्यवहार करते थे । वे मत्स्य-भोजी थे, आर्य्य मांस-भोजी थे । उन्हें घोड़ा ज्ञात नहीं था, आर्य्य घोड़ा पालते थे । वे साँड़ की पूजा करते थे ; आर्य्य गाय की । उन्हें व्याघ्र और हाथी ज्ञात थे, आर्य्यों को नहीं ।

उसी पुस्तक के अध्याय में प्रो० लैंगडन ने दरो से प्राप्त चित्रलिपि पर विचार किया है । मोहन-जो-दरो और हरप्पा की पाँच मोहरें, मेसोपोटेमिया के भग्नावशेषों में मिली हैं और उनका अनुमान है कि ये ई० पू० २-०० के पहले, यानी बैबीलोनिया के प्रसिद्ध राजा सार्गन के

पहले का है। मुहर न० ५०० से ५१५ तक पर स्वस्तिका का चिह्न पाया जाता है। प्राप्त चित्रलिपि पर विचार करके प्रो० लैंगडन इस सिद्धान्त पर आते हैं—

‘यदि यह लिपि सुरक्षित रखी गयी थी और अन्त में बौद्ध-कालीन अक्षरों में परिणत हो गयी, तो यह सिद्ध हो जाता है कि आर्यों का इस भारतीय सभ्यता के निर्माताओं से घनिष्ठ सम्पर्क था। इस प्रश्न पर जिस दृष्टिकोण से भी विचार करें, पर यह स्पष्ट है कि भारत के आर्य्य उससे अधिक प्राचीन हैं, जितना इतिहास अभी मानता है। ऐनेटोलिया (जहाँ उनके चिह्न ई० पू० सतरहवीं शताब्दी के अंकित लेखों में पाये जाते हैं) होकर उनके भारत आने की बात ऐसी है जो सिन्धु-घाटी के अवशेषों से प्राप्त ज्ञान के प्रतिकूल है।’ सर जॉन इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं और इसे अप्राप्त्य समझते हैं।

इस रीति से मोहन-जो-दरो के अवशेषों पर विचार करने वालों की तीन श्रेणियाँ हो गयी हैं—(१) कतिपय विद्वान् जिनमें सर जॉन स्वयं हैं, प्राप्त वस्तुओं के आधार पर एक स्वतन्त्र नागरिक सभ्यता निश्चित करते हैं, और उसे वैदिक सभ्यता के प्रतिकूल और उससे प्राचीन मानते हैं, (२) वे, जो कंकाल-मुण्डादिकों की जाँच करके भी नहीं कह सकते कि आर्यों का, इस सभ्यता से क्या सम्बन्ध था, और (३) वे, जो लिपि की परीक्षा से अनुमान करते हैं कि ब्राह्मी लिपि इसी चित्रलिपि से निकली थी।

अब यह देखना है कि वैदिक प्रमाणों से आर्य्य-सभ्यता का कैसा चित्र प्राप्त होता है। प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए Oxford History of India (V. A. Smith) और Cambridge History of India (Rapson) प्रमाण माने जाते हैं। इनका मत संक्षेप में नीचे दिया जाता है—

‘ऋग्वैदिक आर्य्य व्याघ्र को नहीं जानते थे, किन्तु सिंह को जानते थे। हाथी को वे ‘मृगहस्तिन्’ हाथ वाला मृग कहा करते थे। गाय और

बैल के लिए, 'गो' शब्द ही व्यवहृत होता था (Vedic Index) । उन्हें अभी धान का ज्ञान नहीं था । वे 'यव' बोते थे, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह कौन अन्न था । 'दास' जाति से उनका घमासान युद्ध होता था । 'दास' हार कर भागते थे और अपने 'पुरों' में शरण लेते थे । 'पुर' का अर्थ लगाया जाता है—'ऐसा स्थान जिसे मिट्टी-लकड़ी अथवा पत्थर की छोटी दीवारों से घेर दिया गया हो । ऐसे 'पुरों' की बार-बार चर्चा की गयी है और कहा गया है कि आर्यों ने उनका विध्वंस कर दिया । आर्य्य कृषि जानते थे और खेतों का स्वत्व कृषकों को प्राप्त था । 'ग्राम' 'विश्व' और 'जन' का उच्चेष्ट पाया जाता है । रथों पर युद्ध होता था ; धनुष, बाण, बरखा, तलवार, परशु और शस्त्री (फेंकने का यन्त्र) आदि व्यवहार में लाये जाते थे । वे वच और कर-त्राणादि का व्यवहार भी करते थे ।

'सभी प्रमाणों से मालूम होता है कि आर्यों को नागरिक जीवन का ज्ञान नहीं था । ग्राम शायद आत्म-रक्षा के निमित्त एक से एक सट कर बनाये घरों का समूह होता था, जो लड़कियों की दृष्टियों, अथवा पशुओं एवं शत्रुओं से रक्षा करने वाले साधनों से घिरा रहता था । 'पुर' जिसका बार-बार व्यवहार हुआ है, और जो पीछे 'नगर' का सूचक बना, पहले केवल एक मिट्टी का प्राकार होता था, जो कभी-कभी ग्राम का भाग रहता होगा । कहीं-कहीं पर इन 'पुरों' को शारदीय बताया गया है । घरों के बनाने की विधि का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु मालूम होता है कि बाँस के ही शहतीर होते थे । अनार्यों के समान, आर्य्य भी मूलतः पशुपालक थे ।

'वैदिक समय में गोधन ही श्रेष्ठ धन समझा जाता था और गोपालन पर जोर दिया जाता था । खेत जोरने, और गाड़ी खींचने के लिए साँढ़ और बैल व्यवहार में लाये जाते थे । रथ में घोड़ा जोता जाता था । घुड़दौड़ भी हुआ करती थी । भेड़, बकरी, गधे और कुत्ते पाले जाते थे । अभी बिन्ली नहीं पाली गयी थी । आखेट उस समय भी जीवन का

एक मुख्य अंश था । शिकारी तीर, धनुष और फन्दा भी व्यवहार में लाया करते थे । सिंह फन्दे में, और मृग गढ़े में फँसाये जाते थे, किन्तु शूकरों का शिकार कुत्तों के साथ होता था । निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस समय हाथी पालतू हुआ था या नहीं । भैंसा तीरों से मारा जाता था ; और जब कभी सिंह शिकारियों से घिर जाता था, तब वह भी तीरों से मारा जाता था । इसका प्रमाण मिलता है कि उसी समय धन्धों में विशिष्टता (Specialisation) आने लगी थी । सबसे श्रेष्ठ स्थान था लकड़ी के कारीगर का, ... उसके नीचे आता था धातु गलाने वाला । यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह कौन धातु था, जिसे 'अयस' कहा जाता था—वह ताम्बा, पीतल, लोहा सभी का सूचक हो सकता है । आयर्यो को कपड़े, चटाई आदि बुनने की कला मालूम थी । कपड़ा भेड़ के बालों से बुना जाता था । गहने अधिकतर सोने के होते थे भारतीय आर्य्य मांसाहारी थे मछलियों के शिकार का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता ।'

ऊपर कहा जा चुका है कि वेद के शब्दार्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद हुआ करता है । ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट होगा कि पश्चिमी विद्वान् एक मनगढ़न्त प्रारम्भिक सभ्यता का चित्र हृदय में बिठा कर उसकी यथार्थता के प्रमाण ढूँढ़ते रहे हैं । यह उलटी रीति है । यदि ऐसा नहीं होता तो ऊपर दिये हुए दोनों चित्रों का मिलान करने पर उनमें कोई ऐसी मौलिक भिन्नता नहीं प्रतीत होती जिससे निश्चित रूप से कहा जाय कि मोहन-जो-दरो की सभ्यता एक समय अन्त हो गयी, और वैदिक सभ्यता एक नवीन स्वतन्त्र रूप लेकर प्रारम्भ हुई । जिन विभिन्नताओं पर सरजॉन ने जोर दिया है, उनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो ऋग्वेद के अर्थों में अनर्थ करने पर अधिष्ठित हैं, कुछ ऐसी हैं जो ऋग्वेद जैसे धर्म-ग्रन्थ की स्वाभाविक उक्तिओं से भ्रामक अनुमान निकाल कर खड़ी की गयी हैं—उदाहरणार्थ, 'पुर', 'गौ' आदि शब्दों का अर्थ, मछलियों का खाना, लोहे का ज्ञान आदि ।

प्रश्न स्वभावतः उठता है कि ऐसे धार्मिक ग्रन्थों में किसी बात का उल्लेख न पाने पर क्या हमारा कोई मौलिक सिद्धान्त खड़ा करना अन्याय नहीं है ? ऐसे ग्रन्थों में सामाजिक, नैतिक और ऐतिहासिक बातें तो प्रसंगवश ही आ सकती हैं। उनसे प्राप्त सामग्रियों का सदुपयोग तो यही है कि जो स्पष्ट रूप से लिखा गया है, उसे तो ग्रहण करके अपने काम में लायें; किन्तु जिसका उल्लेख नहीं है, उससे यह न समझ बैठें कि वह बात थी ही नहीं। अधिक से अधिक हम यही कह सकेंगे कि उस बात का प्रमाण नहीं है। दूसरा प्रश्न जो उठता है वह यह है—यदि हम प्रचलित धारणाओं के अनुसार मान लें कि भारतीय आर्य ऐनटोलिया से भारत आये, तो यह मानना ही पड़ेगा कि वे ईरान होकर आये, और तब यह भी मानना पड़ेगा कि उनका सुमेर और अकड़ (बैबिलोनिया में) के विस्तृत और शक्तिशाली राज्यों से सम्पर्क और युद्ध अवश्य हुआ होगा। यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि प्रचलित मतों के अनुसार, आर्य भारतवर्ष में ई० प० २५०० से १२०० के भीतर ही कभी पहुँचे। ई० प० ४००० से ६०० तक उपर्युक्त देशों में विख्यात और सर्व-विजयी राजा होते आये थे, जैसे याम्रोटेन, सार्गेन, नरामसिन हेमुरब्बी आदि। सुमेरियन, अक्कैडियन, ऐसीरियन, सभी लोहा का व्यवहार जानते थे, और उनमें एक लिपि, क्यूनीफोर्म (Cuneiform) भी प्रचलित थी। यदि आर्य उधर से आये होते तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके ज्ञान और लिपि का आभास ऋग्वेद में कहीं नहीं मिलता ? उस समय बैबिलन और निनेवा विख्यात नगर थे। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि आर्यों ने उनका कहीं भी उल्लेख नहीं किया ? वह मानी हुई यात्रा तो एक दिन या एक वर्ष में नहीं हुई होगी; न इसी तरह कि, किसी सीधी सड़क पकड़े काफिला के काफिला चले आये होंगे, और ठीक भारत पहुँच कर रुके होंगे। ऐसी यात्राएँ तो नये प्रदेशों में बसने के लिए ही हुआ करती थीं। यह असम्भव है कि आर्यों का उन विख्यात सभ्यताओं से सम्पर्क न हुआ हो और वे प्रभावित न हुए हों। हम वैदिक सूत्र और पौराणिक साहित्य

के अध्ययन से पाते हैं कि भारतीय संस्कृति का मूल ऋग्वेद में ही है, और जो कुछ भी परिवर्तन हुआ है वह स्वाभाविक विकास के रूप में जो कुछ अन्य जातियों के चिह्न मिलते हैं वे जुद्ध और हेय हैं। ऊपर के सभी विचारों को ध्यान में रखते हुए ऋग्वेद के समय का समावेश हरप्पा और मोहन-जो-दरो के समय के पीछे कैसे हो सकता है ?

ऋग्वैदिक सभ्यता या तो मोहन-जो-दरो और कैल्डिया की सभ्यताओं से श्रेष्ठ थी, वा निम्न श्रेणी की थी। यदि यह उनसे उच्चकोटि की थी, तो ऊपर के विचारों को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि यह मोहन-जो-दरो के पीछे रखी जा सकती है; किन्तु खेद है कि इसके प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हैं। यदि यह कहा जाय कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के अन्त होने के बहुत दिनों के बाद, आर्य्य भारत में आये और इसी कारण उस सभ्यता से प्रभावित नहीं हुए, तो यह तर्क भी ठीक नहीं है; क्योंकि हम तो मानते हैं कि शिव की पूजा आर्यों ने इन्हीं से ली। आर्यों का बहुत पीछे आना और एक मृत सभ्यता की शिवपूजा का ग्रहण करना—ये दोनों बातें साथ ही साथ कैसे सम्भव हो सकती हैं ? यदि हम आर्य्य सभ्यता को मोहन-जो-दरो की सभ्यता से हीन मान लें, तो भी हम उसे मोहन-जो-दरो के पीछे की नहीं मान सकते। ऐतिहासिकों का मत है कि ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना अफगानिस्तान के कुछ भागों और पंजाब में ही हुई। यही तो सिन्धु-घाटी थी; यही हरप्पा और मोहन-जो-दरो की सभ्यता का घर थी। इसी देश में रहकर भला कैसे आर्यों ने उस सभ्यता से कुछ भी नहीं सीखा ? सीखी भी तो केवल शिवपूजा, वह भी अपने रुद्र से शिव को मिलाकर !

‘रुद्र’ और ‘शिव’ का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। भिन्न-भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों और विधि-विधानों की जाँच-पड़ताल भी एक शास्त्र का रूप धारण कर चुकी है। जिसे तुलनात्मक पुराणवाद (Comparative Mythology) कहते हैं। देवता, देवियों की पूजा की उत्पत्ति और एक जाति से दूसरी जाति में जाना आदि विषयों पर विचार करना ही इस

शास्त्र का काम है। पश्चिमी विद्वान् ऋग्वेद के देवताओं की भी जाँच-पड़ताल इसी रीति से करते हैं; किन्तु इसमें अधिकतर अटकल ही रहता है। उदाहरणार्थ 'रुद्र' के विषय में कहा जाता है कि यह सम्भवतः भंभावात के देवता थे, जो यजुर्वेद के समय में किसी अनाद्य देवता से मिला दिये गये। यदि हम 'रुद्र' और 'शिव' शब्दों की उत्पत्ति की ओर ध्यान दें, तो हम पावेंगे कि दोनों ही उणादि सूत्रों से सिद्ध होते हैं। व्याकरण की दृष्टि से यदि हम एक को दूसरी जाति की भाषा से लिया हुआ मानें, तो दूसरे को भी वैसा ही मानना पड़ेगा। इससे 'रुद्र' का 'शिव' बना, वा 'शिव' का 'रुद्र', यह कहना अब असम्भव है। केवल शाब्दिक विचार से यह भी कहना असम्भव है कि ऐसा किस समय में हुआ; किन्तु इतना अनुमान तो अवश्य किया जा सकता है कि यह वेदों के संहिता-रूप में होने के पहले हुआ होगा। और यदि यथार्थतः मोहन-जो-दरो के शिव 'रुद्र' में मिला दिये गये, तो 'रुद्र' का आविष्कार मोहन-जो-दरो के समय से पहले हुआ होगा, और यह भी किसी दूसरी जाति से लिये गये होंगे।

इस रीति से हम देखते हैं कि अटकलों का कोई अन्त नहीं है, और हम इन अटकलों से किसी ऐतिहासिक तथ्य पर नहीं पहुँच सकते। इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान धारणाओं को हटाना पड़ेगा। वैदिक सभ्यता के विषय में जो मत-प्रतान्तर हैं और उनकी आधार-भूमि पर रचनाओं के जो अर्थ लगाये गये हैं, कहीं खींचातानी करके, कहीं मौलिक मान्यताओं के बल पर—उनकी नये रूप से, अनपेक्ष बुद्धि से, जाँच-पड़ताल होनी चाहिए। यहाँ ध्यान में रखना होगा कि पश्चिमी विद्वानों का वैदिक साहित्य के विषय में क्या मत है। उन लोगों ने वैदिक काल को तीन खण्डों में बाँटा है—(१) प्राचीन वैदिक, जिसमें ऋग्वेद की ऋचाएँ आती हैं; (२) मध्य वैदिक, जिसमें साम, यजुर्, और कतिपय ब्राह्मण लिये जाते हैं; (३) अन्तवैदिक, जिसमें अथर्व वेद, ब्राह्मण और कतिपय उपनिषद् आते हैं। कहा जाता कि है यह अनु-

क्रम भाषा-विज्ञान के नियमों पर अधिष्ठित है। साथ ही साथ यह भी माना जाता है कि ऋग्वेद की भाषा, प्रारम्भिक समाज की भाषा नहीं है; यह एक शिक्षित समाज की, उन्नत कोटि की भाषा है। फिर भी दूसरे वेदों की भाषा से इसकी भाषा प्राचीन मानी जाती है। इसके अत्यन्त प्राचीन होने का एक स्वतन्त्र प्रमाण वैदिक साहित्य के भीतर ही मिलता है। इन ऋचाओं की अनेक शाखाएँ हो गयी थीं, इनके अर्थ और उपयोग के विषय में भी मतभेद बहुत पहले ही हो चुका था; प्रत्येक वेद के साथ एक ब्राह्मण और एक आरण्यक का रहना ही इस बात की पुष्टि करता है, क्योंकि जहाँ ब्राह्मणों ने ऋचाओं की उपयोगिता यागादि में देखी, आरण्यकों ने उसे उनिपदों की आध्यात्मिकता में देखा। पाश्चात्य विद्वानों ने स्वयं ऋग्वेद में दो स्तरों को माना है; वह भाषा-विचार पर नहीं, किन्तु विचारों की प्रौढ़ता-अप्रौढ़ता के दृष्टिकोण से। उदाहरण में ऋग्वेद का दशम मण्डल और विशेषतः उसका पुरुषसूक्त बताया जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट होगा कि जब तक इस विस्तृत साहित्य का पूर्ण रूप से पुनरध्ययन करके हम ऋचाओं के अर्थों को फिर से जाँच नहीं कर लेंगे, तब तक उनसे तथ्य ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न असफल ही रहेगा। दूसरी बात यह है कि जिन किम्बदन्तियों और कथाओं को हम रामायण, महाभारत, पुराणों और बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में पढ़ते हैं, और जिन्हें हम गोड़ कहकर तिरस्कृत करते आये हैं, उनकी फिर से, वैज्ञानिक नियमों के अनुसार, छानबीन होनी चाहिए क्योंकि मोहन-जो-दरो से स्पष्ट है, कि हमारे पूर्वजों ने और कुछ किया हो या नहीं, उन्होंने इस जाति की जितनी दन्तकथाएँ थीं, उन सभी को एकत्रित करके रख दिया है और उनमें कुछ सत्य का अंश अवश्य है। यदि उनका व्यवहार बुद्धिमानी से किया जाय, तो सम्भव है कि वेदों के कुछ स्थानों पर प्रकाश डालने में वे सहायक हों।

अस्थि-मुण्डों के विशारदों की बात ऊपर दी गई है। उनकी विचार-बुद्धि भारतीय आर्यों की जाति निर्धारित करने में कुण्ठित तो है, किन्तु मोहन-जो-दरो के निवासियों को अनार्य मान लेती है और उन्हीं मान्यताओं के बल पर, जिनकी ऊपर आलोचना की गई है, यह भी निश्चित कर लेती है कि आर्यों का उस सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह तो स्पष्ट है कि दाहसंस्कार करने वाले आर्यों का कंकाल मिल नहीं सकता, अतः मानना ही होगा कि इस विचार से कोई लाभ नहीं हो सकता। अन्य जातिवालों का कंकाल मिलने, और आर्यों का न मिलने से यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, कि इस नगर में आर्य थे ही नहीं। उनके अनेक चिह्न तो मिले ही हैं — सांड मिला है, स्वस्तिका मिली है; और यदि हमारे वैदिक साहित्य का पूर्ण पण्डित प्राप्त सामग्रियों का अध्ययन करे, तो भूले हुए चिह्न मिल सकते हैं। कहा जाता है कि द्राविड़ जाति के चिह्न, भारत, अफगानिस्थान और पारस के दक्षिण भाग में मिलते हैं और इससे अनुमान किया जाता है कि एक समय था जब द्राविड़ों की सभ्यता इन देशों में व्याप्त थी। इस मत के अनुसार आर्यों ने द्राविड़-साम्राज्य को नष्ट कर दिया, किन्तु स्वयं उस सभ्यता के अधीन हो गये। यह अटकल दो बातों पर स्थित है — एक तो यह कि बैबिलन के सुमेरियन द्राविड़ थे; और दूसरा कि, अफगानिस्तान के ब्रह्मरी भाषा बोलनेवाले द्राविड़ थे। सम्भव है कि यह अनुमान अनेक अंशों में ठीक हो, और इसी द्राविड़ जाति के वे दानव और असुर रहे हों, जिनका विकृत रूप हमारे कथानकों में मिलता है। किन्तु समस्त भारत कभी भी द्राविड़ों के अधीन था, यह ठीक नहीं जँचता; क्योंकि आदिम-निवासियों को—कोल, भील, मुण्डा आदि जो आज भी बिखरे पड़े हैं, कौन स्थान दिया जायगा? बात तो यह है, कि इन मनोरञ्जक किन्तु कठिन विषयों की यथोचित छान-बीन नहीं हुई है, और ऐतिहासिकों ने, अधिकतर अल्प प्रमाणों पर बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ खड़ी कर दी हैं। स्पष्ट है कि इस विभाग की भी वैज्ञानिक रीति से गहरी

जाँच-पड़ताल होनी चाहिए और उसमें आर्य्य-साहित्य की बुद्धिमानी से सहायता लेनी चाहिए। इसी सिलसिले में मोहन-जो-दरो की चित्र-लिपि की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। इन चित्रों के पढ़ने की कुञ्जी नहीं मिली है; किन्तु इन्हें पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। प्रो० लैंगडन के विचार ऊपर दिये गये हैं। रेवरेण्ड हेटास ने बिहार-रिसर्च-सोसाइटी के जर्नल में इसे तमील भाषा मानकर पढ़ने का प्रयत्न किया है। रायबहादुर विष्णु स्वरूप ने उसी जर्नल में (१९२२-२३) इसे पढ़ने का, स्वतन्त्र रीति से, प्रयत्न किया था। किन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है, किसी ने भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं की लिपियों के प्रचलित और प्राचीन रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करके और बुद्धि की सहायता लेकर इन्हें पढ़ने का प्रयत्न नहीं किया है। ऐसा प्रयत्न होना अत्यावश्यक है। जितनी चित्र-लिपियाँ मिली हैं, उनकी सूची प्रो० लैंगडन के लेख में दी हुई है।

ऊपर कहा गया है कि प्राचीनतम काल के इतिहास के लिए उत्तम प्रमाणों का अभाव है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि भारत-जैसे विशाल देश के लिए जितनी खुदाई का काम आवश्यक है, उतनी आज तक नहीं हुई। जो खुदाई हुई भी वह उन्हीं स्थानों पर, जिनका सम्बन्ध बौद्ध और जैन काल से था। यह बात सही है कि प्राचीनतम काल से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों में से अधिकतर अभी तक नगर-रूप में स्थित हैं, जैसे—इन्द्र-प्रस्थ, उज्जयिनी, काशी, अशोक आदि। ऐसे स्थानों में खुदाई का काम असम्भव ही कहा जा सकता है। तथापि ऐसे स्थलों की कमी नहीं जहाँ खुदाई की जा सकती है, जैसे—हस्तिनापुर, श्रावस्ती, कौशम्बी, काम्पिन्ध्य, महिष्मती, द्वारका आदि। जब तक पूर्ण रूप से ऐसा नहीं किया जाता और मोहन-जो-दरो की लिपि पढ़ी नहीं जाती, प्राचीन भारतीय इतिहास दुविधा में ही रहेगा।

तथापि एक विलक्षणता की ओर ध्यान आकृष्ट करना अनिवार्य है। यदि हम, सभी मान्यताओं और उन पर बने हुए विचारों को मन से

हटा दें और अपने पूर्वजों की जीवन-कथा के विभिन्न अङ्गों को, वेदों से मोहन जो-दरो के अवशेषों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, सूत्रों, पुराणों और श्रुतियों से एकत्र करें, तो इस विस्तृत कालखण्ड पर एक अजीब जीवन-प्रवाह को बहते पायेंगे। एक अपने ही समान पुरुषों, स्त्रियों और बालक-बालिकाओं की अनन्त श्रेणी को, उच्च विचारों, उच्च आदर्शों और मनमोहक शील और विनय से प्रेरित, अन्धकारमय युगों को अपनी दीप्ति से आलोकित करते देखेंगे; और तब हमें झटकने लगेगा कि यह प्रवाह तो अभिन्न गति से, कभी तेज, कभी स्निग्ध, कभी क्रूढ़ता हुआ, कभी विवर्त्तों से सुशोभित, आज दिन तक बहता ही चला जाता है। यह वही प्रवाह है जिसे हम बौद्धकाल में पाते हैं, जिसके सुदृढ़ चिह्नों को वैदिक समय में देखते हैं और जिसकी झलक हमें मोहन-जो-दरो में भी प्राप्त होती है। इस विचित्रता पर ध्यान न देकर प्राचीन अवशेषों का अध्ययन हमें कभी सत्य तक नहीं पहुँचा सकता।

[अप्रैल, १९५०]

प्राचीन भारत के 'राजन्'

[इस लेख में 'राष्ट्र' शब्द, अङ्गरेजी State के अर्थ में, 'राजकीय राष्ट्र', 'राजाप्रधान राष्ट्र' आदि शब्द, अङ्गरेजी Monarchy, और 'मन्त्री-मण्डल', अङ्गरेजी Cabinet, तथा 'मन्त्रिपरिषद्' अङ्गरेजी Council of State के अर्थ में व्यवहृत होंगे। 'राज्य', Kingdom के लिए व्यवहृत होगा।]

भारतीय पुरातत्त्व के विद्वानों का मत है कि भारतीय राष्ट्र का प्रथम रूप राजकीय-राष्ट्र ही था। विभिन्न देशों की शासन-पद्धति के इतिहास में राजकीय-राष्ट्रों के दो रूप पाये जाते हैं: एक वह जिसमें राजा के अधिकार नियमित होते हैं; और दूसरा, जिसमें राजा अनियन्त्रित रूप से स्वेच्छाचारी होकर शासन करता है। पहले रूप का उदाहरण आधुनिक इङ्ग्लैण्ड का राष्ट्र है; दूसरे का उदाहरण भी राजा चार्ल्स प्रथम के समय का इङ्ग्लैण्ड था। प्रायः सभी मध्यकालीन यूरोपीय और ऐशियाई राष्ट्र इसी ढंग के थे। भारतीय राजाप्रधान राष्ट्रों में कुछ विलक्षणताएँ थीं, जो उन्हें उभरुक्त दोनों श्रेणियों से अलग कर देती हैं। उनके उत्थान, विस्तार और पतन की कथा अत्यन्त रोचक और सत्य ही शिक्षाप्रद भी है।

यद्यपि पश्चिमी विद्वानों ने भारत के राज्यों की भी गणना दूसरी श्रेणी के राष्ट्रों में की है तथापि वैदिक प्रमाणों से अब स्पष्ट हो गया है कि उनकी धारणाएँ भ्रमात्मक हैं और वे भारत की विलक्षणताओं के निरादर पर खड़ी की गयी हैं। यदि पश्चिमी और भारतीय राज्यों के निर्माण की ओर हम ध्यान दें, तो हमें ज्ञात होगा कि जहाँ पश्चिमी राजाओं का आधिर्भाव वैयक्तिक बल और बुद्धि के प्रयोग से हुआ था, वहाँ

भारतीय राजाओं का राष्ट्रपतित्व जनता की प्रीति और चुनाव से होता था। इस बात को 'राजन्' शब्द स्वयं सिद्ध करता है। 'राजन्', 'राट' शब्द की तुलना कुछ विद्वानों ने लैटिन भाषा के Rex' (रेक्स) शब्द से की है। 'रेक्स' का अर्थ है शासक। Rex' (रेक्स), 'King' (किङ्ग) आदि पश्चिमीय शब्दों से बल, शक्ति आदि की प्रधानता प्रकट होती है; किन्तु आर्य-राजनीति के आचार्यों की दृष्टि में, 'राजा' शब्द से लोकप्रियता, प्रजा का रञ्जन करने की योग्यता ही सिद्ध होती है। 'राजा' शब्द की उत्पत्ति है—राजते, शोभते, राज्+कणिन्। कालिदास ने तो 'रञ्जयति इति राजा' ऐसा अर्थ लगाया है। विचार करने से स्पष्ट होगा कि दोनों अर्थों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि जो शोभन है, वह निश्चय ही प्रिय है। जिस भाव को कालिदास ने व्यक्त किया है वह प्राचीनतम काल से ही हमारे साहित्य में ओतप्रोत है। शिलालेखों से भी मालूम होता है कि हमारे प्रधान राजाओं के सामने लोकप्रियता का ही आदर्श रहा करता था और उनकी श्रेष्ठता का मानदण्ड भी यही आदर्श था। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी इसी आदर्श का उल्लेख किया गया है। सम्राट खारवेल ने अपने हाथीगुम्फ शिलालेख में लिखा है कि उन्होंने अपनी पैंतीस लाख प्रजा को आनन्दित किया था (प्रीणयति)। सम्राट अशोक के शिलालेखों में भी ऐसे ही भाव भरे हैं।

इसका कारण स्पष्ट है। प्राचीनतम समय से ही हमारे राजाओं का चुनाव होता था। इसी कारण जो राजपद का अभिलाषी होता था, उसे प्रजा में अपने प्रति प्रीति पैदा करने के लिए नित्य प्रयत्नशील होना अनिवार्य था। अथर्ववेद और ऋग्वेद में भी राजा के चुनाव का स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जैसे-जैसे राज्यों का विस्तार होता गया, और राजाओं के बल, वैभव बढ़ते गये, वैसे-वैसे चुनाव का नियम स्वभावतः ढीला पड़ता गया और समय आया जब राजत्व परम्परागत हो गया, और चुनाव केवल एक रूढ़ि बनकर रह गया।

अथर्ववेद के छठें मण्डल में चुनाव के गीत पाये जाते हैं। उनमें से एक अथर्वन नीचे दिया जाता है—

ध्रुवोऽच्युतः प्रभृणीहि शत्रून्छत्रयूतोऽधरान् पादयस्व ।

सर्वादिशः संमनसः सर्वाचिर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥

‘अचल होकर, बिना स्खलित हुए, शत्रुओं को हराओ, और जो शत्रुवत् व्यवहार करें उन्हें पैरों से कुचल डालो। सब दिशाएँ एक मत होकर तुम्हारा आदर करती हैं और यह समिति तुम्हें अचलता के लिए बनाती है (चुनती है) ।’

वैदिक समय में यह चुनाव समिति में होता था। वेदों में दो शब्द पाये जाते हैं—सभा और समिति, जिनके विषय में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। ‘समिति’ और ‘सभा’ में क्या भेद था, यह कहना कठिन है। कुछ विद्वानों का मत है कि ‘समिति’ समस्त प्रजा का सम्मेलन थी, और राजा को चुनना इसका प्रधान कार्य था। अनेक ऋचाओं से यह भी विदित होता है कि समिति में राष्ट्रीयता पर विचार किया जाता था, और लोग प्रार्थना करते थे कि ‘समिति’ एक हो, और वह एक राष्ट्रीयता स्थापित करे; जैसे, ‘समानो मन्त्रः समितिः समानी’—(ऋक् १०१६१. ३)। ‘सभा’ के विषय में, जर्मन लेखक, लुडविग् (Ludwig) की धारणा है कि ‘समिति’ प्रजामात्र का सम्मेलन थी, और ‘सभा’ वृद्धों (Elders) की। जिम्मेर (Zimmer) की राय है कि ‘समिति’ राष्ट्र की संस्था थी, और ‘सभा’ गाँव की। ‘केम्ब्रिज हिस्ट्री’ के लेखकों की राय में, ‘सभा’ से उस स्थान को समझना चाहिए जहाँ ‘समिति’ बैठती थी। इनकी यह भी राय है कि भारतीय राजाओं के चुने जाने का कोई प्रमाण नहीं है। ये दोनों ही बातें पक्षपातपूर्ण मालूम होती हैं। ऊपर उद्धृत अथर्वन में प्रयुक्त ‘कल्पताम्’, ‘समिति’ के अधिकार का द्योतक है; और वह अधिकार ‘राजा’ बनाने का ही हो सकता है। समिति इस अधिकार को कार्यान्वित तभी कर सकती थी जब वह किसी

को योग्य समझ कर उसे राज-पद के लिए चुनती। फिर अथर्ववेद ३. ४. २ में 'त्वां विशो वृणुतां' पद पाया जाता है, और यह स्पष्ट कर देता है कि राजाओं का चुनाव होता ही था। इसी अथर्ववेद में 'राष्ट्रस्य ककुदि' पद भी आया है, जिससे मालूम होता है कि उस अति प्राचीन समय में भी आर्यों ने 'राष्ट्र' को 'राजा' से भिन्न कर रक्खा था। अभिषेक सम्बन्धी कतिपय बातों पर विचार करने से चुनाव की बात और भी सिद्ध हो जाती है। ऋक् १०-१७३-६ में कहा गया है कि अभिषेक के लिए उपस्थित मनुष्य को 'विश' न 'बलिद्धृत' (Tax-Collector) बनाया— 'केवलीर्विशो बलिद्धृतस्करत्'। इससे स्पष्ट है कि 'विश' (जनता) ही इस अधिकार को दे सकता था, और वह इस अधिकार को राज-पद के लिए चुन हुए मनुष्य को ही ('केवली') देता था। वैदिक काल में ही जब राजा सिंहासन पर चढ़ता था, तब एकत्रित जनता और राजा बनाने वाले मन्त्री (राजकर्तृ) उसे एक पलाश का केयूर देते थे। इस केयूर को 'मणि' कहा जाता था, क्योंकि उसीके रूप में राष्ट्र राजा की रक्षा में दिया जाता था। ब्राह्मणों के समय में ये 'राजकर्तृ' 'रत्निन्' कहाने लगे, क्योंकि राष्ट्र की मणि उन्हीं के पास तब तक रहती थी, जब तक राजा चुना नहीं जाता और अभिषिक्त नहीं होता था। 'राजकर्तारो' में कोषाध्यक्ष, सेनापति, ग्रामणी, रथकार, कर्मकारादि का उल्लेख है। पर्ण या मणि पाने पर राजा को कहना होता था -

‘हे पर्ण ! तू दत्त रथकारों, कर्मकारों और जो मनीषी मेरे चारों ओर हैं, उन्हें मेरा सहायक बना। हे पर्ण ! जो राजा हैं, जो राजकर्ता हैं, जो सूत और ग्रामणी हैं, और जो लोग मेरे आसपास हैं, उन्हें तू मेरा सहायक बना ।’

अथर्ववेद ३. ३. ५ से प्रतीत होता है कि कभी-कभी राजा अपने देश से निकाल दिये जाते थे। कभी-कभी राजकुमार भी राज-पद के अयोग्य समझे जाकर देश से निकाले जाते थे, जैसे सगर के पुत्र अस-

मजस । किन्तु देश से निकाला हुआ राजा भी कभी-कभी फिर बुला लिया जाता था अगर जनता ऐसा निश्चय कर लेती ।

उपर्युक्त प्रमाणों से कुछ सन्देह नहीं रह जाता कि 'केम्ब्रिज हिस्टरी' के लेखकों की धारणा ठीक नहीं है और आदि काल से ही भारत के राजाओं का चुनाव होता था । इस विषय में बार-बार 'विशः', शब्द का प्रयोग हुआ है—जैसे 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु' । 'विशः', जनता के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि बड़े छोटे सभी को राजा चुनने का अधिकार था ।

वैदिक ऋचाओं से उस समय की अभिषेक-विधि स्पष्ट नहीं मालूम होती । इतना ही स्पष्ट है कि चुनाव के बाद राजा सिंहासन पर बैठ कर राजकर्ताओं से 'मणि' पाता था और उपर्युक्त प्रार्थना करता था । तत्पश्चात् जनता अनेक शुभकामनाएँ प्रकट करती थी । किन्तु ब्राह्मणों में अभिषेक की विधि विस्तार से दी गयी है । इतिहासज्ञों की धारणा है कि ब्राह्मणों का समय ऋचाओं के समय से पीछे आता है । किन्तु यह धारणा सर्वथा ठीक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि ब्राह्मण और आरण्यक तो ऋचाओं के व्यवहार और अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं । अतः यह सम्भव है कि उन में दी हुई विधियाँ और व्याख्याएँ अनेक अंशों में ऋचाओं के साथ ही साथ बनी हों ।

यदि वैदिक काल से भिन्न कोई ब्राह्मण-काल था, तो उस समय भी राजाओं का चुनाव होता था । ब्राह्मण-ग्रन्थों में राज्याभिषेक की विधियों का विस्तृत और सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन पाया जाता है; और कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक समय की ही सरल विधियों को धीरे-धीरे आडम्बर देकर बढ़ा दिया गया । जायसवाल की राय है कि राजा का चुनाव जीवन भर के लिए भी होता था । इस अनुमान की पुष्टि में वे अथर्ववेद ३०४७ का उल्लेख करते हैं - 'दशमीमुग्रः सुगता वशेह' । किन्तु यह तो आशीर्वचन है, और इसके आधार पर उपर्युक्त नियम का अनुमान करना खींचतानी-सा प्रतीत होता है ।

राजाओं के अभिषेक में तीन मुख्य विधियाँ बताई गई हैं— राजसूय, वाजपेय और सर्वमेघ । शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है कि राजाओं के लिए ही राजसूय होता है । वाजपेय और सर्वमेघ यज्ञों को तो बही कर सकता था जो अभिषिक्त राजा था । राजसूय करके ही राजा होता था । राजसूय के तीन भाग थे—प्रारम्भिक क्रियाएँ, अभिषेचनीय और अन्तिम क्रियाएँ । अभिषेचनीय ही सबसे आवश्यक अंग था । जब तक अभिषेचनीय समाप्त नहीं होता था, तब तक चुना हुआ मनुष्य, 'राजा' नहीं कहा जाता था । अभिषेक के पहले उसे ग्यारह (अथवा बारह) 'रत्निनों' के घरों पर जा-जा कर 'रत्न-हवि' देना पड़ता था । 'रत्निन्' कहलाने वाले व्यक्ति ये थे—(१) सेनानी—प्रधान सेनापति; (२) पुरोहित; (३) स्वयं चुना हुआ पुरुष अथवा कोई 'राजन्य' (क्षत्रिय); (४) राजमहिषि, क्योंकि पत्नी के बिना पुरुष अधूरा समझा जाता था ; (५) सूत—यह राजकर्मचारी पुराण, इतिहास और राजा के राजत्व-काल की घटनाओं को लेखबद्ध करके उनकी रक्षा करता था ; (६) ग्रामणि—ग्राम-पंचायत का मुख्य कार्यकर्ता ; (७) क्षत्री (कंचुकी ?) ; (८) संग्रहित्री—पीछे यह कर्मचारी कोषाध्यक्ष कहा जाता था ; (९) भागदुग्ध—जो बलि अथवा कर को वसूल करता था; (१०) अक्षवाय—अर्थशास्त्र के अनुसार सोना, चाँदी और सिक्का ढालने का काम, 'अक्षशाला' विभाग के अधीन रहता था । किन्तु 'अक्ष' का अर्थ 'पाश' भी होता है । इससे यह जूआ के सामान को रखने वाला कर्मचारी भी हो सकता है । जायसवाल की राय है कि यह हिसाब-किताब रखनेवाले विभाग का अध्यक्ष था ; (११) गो-विकर्तृ—यह कर्मचारी उस विभाग का अध्यक्ष था जो हिंस्र पशुओं के मारने का आयोजन करता था ; (१२) पहलागल—सन्देश-हर । यजुर्वेद में इसके बदले तक्ष और रथकार का उल्लेख है ।

जो कुछ ऊपर लिखा गया है उससे मालूम होगा कि जहाँ वैदिक समय में ५ या ६ 'राजकर्ता' होते थे, वहाँ ब्राह्मण-काल में ११ या १२ 'रत्निन्' हो गये, और इनमें अधिकांश उच्च-पदाधिकारी राष्ट्रसेवक ही थे ।

उन्हें हवि देने का कारण, शतपथ-ब्राह्मण में बताया गया है—‘क्योंकि उसी के लिए (कारण) वह अभिषिक्त होता है और उसे वह अपना सच्चा अनुचर बनाता है (स्वमनपक्रमिणं कुरुते)’। ऊपर यह कहा जा चुका है कि ‘राजकर्त्ता’, समिति के अंग थे और इस तरह उनकी स्थिति चुने हुए मनुष्य पर निर्भर नहीं थी। उनकी पूजा इसीसे होती थी कि वे पहले ही से स्थित थे, और ‘राजा’ वो ‘राजा’ बनाते थे। यद्यपि आगे चलकर राजाओं के अधिकार बढ़ गये और ये ‘रत्निन्’ शक्तिहीन होकर अधिकार-भ्रष्ट हो गये, तथापि उन्हें पूजने की प्रथा जारी ही रही। अभिषेक-विधि की एक और विचित्रता की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। चुना हुआ मनुष्य केवल ‘रत्निनों’ की ही पूजा नहीं करता था; उसे पृथ्वी की पूजा करके उससे ‘अनुमति’ लेनी पड़ती थी। वह आठ वर्तनों में ‘पुरोडास’ लेकर, ‘अनुमति’ के लिए चलता था। ‘इयं वा अनुमतिः’—पृथ्वी को ही ‘अनुमति’ कहते हैं, ‘क्योंकि जो मनुष्य वह कर्म कर सकता है जिसे वह चाहता है, उसे वह (पृथ्वी) पसन्द करती है (अनुमन्यते)।’ यहाँ एक और विचित्रता की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। ‘रत्निनों’ को हवि देने के बाद ही सोम और रुद्र को रस देने की बारी आती थी। आज यह उल्टा-सा मालूम होता है। कुछ विद्वानों ने इससे यह अनुमान किया है कि ऐसी विधि इसलिए बनी होगी कि राजा-प्रजा सभी इस बात को स्मरण रखें कि राष्ट्र के देनेवाले देवता नहीं, मनुष्य थे। किन्तु टीकाकारों ने दूसरा ही अर्थ निकाला है।

अभिषेक के समय में, माजनों के साथ-साथ क्रम से सविता, अग्नि, सोम, वृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, मित्र और वरुण की स्तुति की जाती थी। राजा के लिए सविता से तेज, अग्नि से सामाजिक गुण, सोम से वनरक्षा की शक्ति, वृहस्पति से वाग्मीयता, इन्द्र से शासनशक्ति, मित्र से सत्यता, और वरुण से धर्मरक्षा की शक्ति माँगी जाती थी। कहा गया है कि वरुण धर्म के रक्षक हैं और वे ही राजा को धर्म का रक्षक बनाते हैं। धर्म-रक्षक का पद सर्वोत्तम माना गया है। अभिषेक-जल विख्यात नदियों और समुद्र

से तो लाया ही जाता था, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि गाँव की पोखरी का जल भी अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। जायसवाल की राय है कि पोखरी को इतना महत्व देना इसी बात की ओर संकेत करता है कि हमारे पूर्वजों की दृष्टि में राज-पद देवनिर्मित न होकर मनुष्य-जीवन से सम्बद्ध था। मार्ज्जन में एक ब्राह्मण, एक राजन्य, एक वैश्य, और तैत्तिरीय-ब्राह्मण के अनुसार, एकजन्य (शूद्र ?) भाग लेते थे। मार्ज्जन के समय चुना हुआ पुरुष व्याघ्रचर्म पर खड़ा रहता था और मार्ज्जन समाप्त होने पर वह रेशम का कपड़ा, एक चादर और मुरेठा अथवा किरिट धारण करता था।

अभिषेचनीय के दो अंग थे—मार्ज्जन, जिसे उपर्युक्त रीति से राष्ट्र के सभी वर्ण सम्मन्न करते थे; और तिलक का देना, जिसे ब्राह्मण करता था। तिलक देने के अनन्तर, वह ब्राह्मण राजा के हाथ में एक धनुष और तीन शर देता था; और कहता था, 'तुम रक्षा करो'। इसके अनन्तर आविद् (प्रकाशन) के मन्त्र पढ़े जाते थे। इन आविदों में, मनुष्य, अग्नि, इन्द्र, मित्र, पूषण, वरुण, द्यावापृथ्वी और अदिति को सम्बोधित कर बताया जाता था कि अमुक पुरुष राज्याभिषिक्त हुआ। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार 'अग्नि' से ब्राह्मण, 'इन्द्र' से क्षात्र, 'पूषण' से चतुष्पद, इत्यादि सम्भना चाहिए।

आविद् के अनन्तर इन्द्राभिषेक होता था। ऐतरेय-ब्राह्मण के अनुसार, राजा को राज-शपथ इसी समय लेनी होती थी। वह थी—'यां च रात्रिभजापेहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणोष्ठा पूर्त्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजाः वृञ्जीया यदि ते द्रुह्येयमिति'। [जिस रात को मैंने जन्म लिया और जिस रात को मैं मरूँगा, उसके बीच में जो कुछ मैं भला कर्म करूँगा, वह मेरा लोक (स्वर्ग), मेरी आयु, मेरी सन्तति, सभी नष्ट हों, यदि मैं तुम पर अत्याचार (शत्रुता) करूँ ।] शपथ के बाद राजा को लकड़ी के सिंहासन पर चढ़ने को कहा जाता था। जब वह चढ़ने लगता था तब मन्त्र पढ़े जाते थे, जिनमें कहा जाता था कि पूर्व दिशा, ब्राह्मण

के रूप में ; दक्षिण, ज्ञात्र के रूप में ; पश्चिम, वैश्य के रूप में और उत्तर 'फूज' (शूद्र ?) के रूप में, राजा की रक्षा करें। राजा के सिंहासन पर चढ़ने के पहले, उसे सोने के थाल पर खड़ा कराया जाता था, और पुरोहित एक शतच्छिद्र वाले थाल में जल रखकर उसके मस्तक पर सिंचन करता था और कहता था—

‘मैं तुम्हें सोम की द्युति से, अग्नि के तेज से, सूर्य की ज्योति से, इन्द्र के बल से, सिंचन करता हूँ...’ (वाजसनेयी) ।

इसके अनन्तर राजा को तीन पग चलकर सिंहासन पर चढ़ना होता था और तब निम्नांकित मन्त्र पढ़ा जाता था, और यही अभिषेक को पूर्ण और सिद्ध करता था—

‘इयं ते राट्...यन्तासियमनो ध्रुवोऽसि धरुणः ।

कृष्यै त्वा, ज्ञेमाय त्वा रथ्यै त्वा पोषाय त्वा ॥’ (शतपथ)

नीति-शास्त्रकारों का मत है कि ‘इयं ते राट्’ का उच्चारण करने पर ही वह क्षत्रिय ‘राजा’ बनता था, क्योंकि इसीसे उसे राज्याधिकार प्राप्त होता था। इस मन्त्र से यह भी स्पष्ट है कि यह अधिकार उसे कृषि की उन्नति, ज्ञेमा (शान्ति और सुख) की पुष्टि, धन की समृद्धि और राष्ट्र के सब अंगों के पोषण के लिए दिया जाता था। सारांश यह कि उसे यह अधिकार राष्ट्र की सर्वांगीण भलाई के लिए (टीकाकार—‘साधवे’) ही दिया गया था।

अभिषेक समाप्त होने पर कुछ और विधियाँ सम्पन्न की जाती थीं। राजा सिंहासन से उतर कर, शूकर-चर्म का जूता पहनता था और चार घोड़ोंवाले रथ पर चढ़कर कुछ दूर जाता था ; किन्तु शीघ्र ही फिर लौट आता था और मन्त्रोच्चारण के साथ फिर सिंहासन पर बैठता था। तब उसकी पीठ पर धीरे से एक दण्ड छुलाया जाता था। शतपथ में लिखा है—‘अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्ध्नन्ति । तदण्डैर्ध्नन्ती दण्डबधमतिनयन्ति तस्मात् राजा दण्ड्यो यदेनं दण्डवधमति नयन्ति ।’ जायसवाल का मत है

कि यह विधि यही दिखाने के लिए की जाती थी कि राजा भी दण्ड के अधीन था ; और शतपथ के बनानेवाले ने इसीको कुछ नमक-मिर्च लगाकर कहा है। इस विधि के अनन्तर एकत्रित चातुर्वर्ण्य प्रजा, 'रत्निम्' आदि कर्मचारियों के साथ राजा को घेर कर बैठ जाती थी। तब राजा पृथ्वी के प्रति अपनी भक्ति दरसाता हुआ कहता था—'पृथिवि मातर्मा माहि सीर्माऽअहं त्वां'। फिर सबसे पहले ब्राह्मण अपनी राजभक्ति प्रकट करता था। राजा कहता था—'ऐ ब्राह्मण !' किन्तु ब्राह्मण बात काटकर बोल उठता था—'तुम्हीं ब्राह्मण हो, तुम्हीं सत्य-शक्तिवाले वरुण हो, तुम्हीं समस्त विश्व (जनता) के बल से परम बली हो।' यह वाक्य पाँच बार दुहराये जाते थे और ब्राह्मण अपने स्वत्व को राजा के अधीन करता था। तब कोई ब्राह्मण यज्ञीय खड्ग राजा को, हाथ में, 'तेन मे रध्य' कहता हुआ, देता था। राजा उस खड्ग को राष्ट्र-कर्मचारियों और ग्रामणियों को देता हुआ कहता था—'तेन मे रध्य'।

ऊपर वर्णित अभिषेक-विधि की क्रिया में कुछ गूढ़ अर्थ छिपा हुआ है। उन क्रियाओं से यह झलकता है कि, (१) भारतीय राजा के सब अधिकार जनता से प्राप्त होते थे; (२) राजत्व ईश्वरप्रदत्त नहीं था; (३) राजा चुना जाता था; (४) राजा-प्रजा परस्पर नियमबद्ध थे; (५) राजा राष्ट्र का कर्मचारी था; (६) राजा दण्ड के अधीन था; और (७) राजा स्वेच्छाचारी नहीं था। ब्राह्मण-ग्रन्थों से यह भी मालूम होता है कि अभिषेक एक पीढ़ी, दो पीढ़ी अथवा बराबर के लिए भी किये जाते थे। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्राह्मण-काल में ही वैदिक चुनाव की विधि शिथिल होने लगी थी और राजत्व क्रमागत होने लगा था।

उपर कहा जा चुका है कि कभी-कभी जनता उच्छृङ्खल राजाओं को पदच्युत कर देती थी। इसके प्रमाण ब्राह्मणों में भी मिलते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे राजाओं के उदाहरण दिये गये हैं। ऐसे राजाओं के फिर से चुने जाने की अलग विधि पाई जाती है।

ब्राह्मण-युग के अन्त हो जाने पर भी वैदिक मूल सिद्धान्तों का अन्त नहीं हुआ। बल्कि रूढ़ों में तो थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य हुआ, और बौद्धकाल में राजत्व परम्परागत हो गया, तथापि अभिषेक की विधियाँ वे ही रहीं और भारतीय राजनीतिक आदर्श उन्हीं सिद्धान्तों पर स्थित रहे। वैदिक 'राजकर्त्ताओं' का स्थान जैसे 'रत्नियों' ने लिया था, वैसे ही उनका स्थान मन्त्रियों ने ग्रहण किया। ऋग्वैदिक समिति, जो ब्राह्मण-काल तक काम करती आई थी, पौर-जानपद में बदल गई। अब अभिषेक के पहले राजा मन्त्रियों का सत्कार, पूजन करने लगा, जैसे राजसूय के पहले युधिष्ठिर ने अपने मन्त्रियों का किया था। महाभारत और रामायण से स्पष्ट है कि अभिषेक के समय सभी वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अभिषेक में भाग लेते थे। एक नई बात यह हुई कि कुमारियाँ भी भाग लेने लगीं (महाभारत, शान्तिपर्व ४१)। राजशपथ का सारांश तो वही रहा, किन्तु रूप कुछ बदल गया (महा० शा० १०६-१०७)।

प्रतिज्ञां चाभिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।

पालयिष्याम्यहंभौमं बह्व इत्येवचासकृत् ॥

यश्चात्रधर्म्मो नीत्युक्तो दण्डनोतिव्यपाश्रयः।

तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥

‘स्ववशो न कदाचन’ ध्यान देने योग्य है। राजा आदि-काल से ही नियमबद्ध रहता था, स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। ठीक यही बात बाद का इतिहास भी कहता है। यद्यपि सम्राटों और चक्रवर्त्तियों के समय में बहुत अंशों में जनता का अंकुश ढोला पड़ गया, तथापि बहुत दिनों तक मन्त्रिपरिषद् और पौर-जानपदों का अंकुश सम्राटों को भी मानना ही पड़ा था।

यहाँ मन्त्रिपरिषद्, पौर और जानपद के संघटन, अधिकार और कार्यक्रम पर विचार करना आवश्यक है। हम ऊपर देख चुके हैं कि ऋग्वैदिक समिति राजा को चुनती थी और उसीके कुछ सदस्य ‘राजकर्त्तृ’ के नाम से विख्यात थे। कुछ दिनों के बाद ये ‘राजकर्त्तृ’,

‘रत्निन्’ में परिवर्तित हो गये और उनकी संख्या बढ़ गई। वेदों में ‘समिति’ के लिए कभी-कभी ‘परिषद्’ शब्द भी व्यवहृत हुआ है। ब्राह्मण-काल के बाद, सूत्र और बौद्ध-काल में हम पाते हैं कि पूर्व समय के ‘रत्निन्’ अब ‘मन्त्रिपरिषद्’ में परिवर्तित हो गये हैं। मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् में यह भेद था कि सभी मन्त्री मन्त्रिपरिषद् के सदस्य नहीं थे। इस बात की पुष्टि कौटिल्य-अर्थशास्त्र के इस वाक्य से होता है—‘जब कभी अपूर्व (‘आत्यायिक’) बात हो, तब मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् को एकत्रित करना चाहिए और उन्हें इसकी सूचना देनी चाहिए। उस बैठक में जो बहुमत से निर्णय हो, वही राजा को करना चाहिये।’

मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों का सन्तोषजनक उल्लेख नहीं मिलता। कौटिल्य-अर्थशास्त्र, अन्य नीति-ग्रन्थों, और रामायण, महाभारत इत्यादि में मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् की संख्या के विषय में मतभेद पाया जाता है। कौटिल्य के अनुसार, परिषद् के (१) मन्त्रधार, (२) अन्य मन्त्री, (३) ऐसे मन्त्री जिन्हें किसी खास शासन-विभाग की देख-रेख नहीं सौंपी गई हो; और (४) अन्य, सदस्य होते थे। महाभारत के अनुसार, मन्त्रिपरिषद् में ३२, और अन्य लेखकों के अनुसार २०, तथा १६ सदस्य होने चाहिए। शुक्र-नीति के अनुसार, राजा को (१) सभ्य (सभापति), (२) अधिकारियों और (३) प्रकृति की राय माननी चाहिए। यहाँ ‘प्रकृति’ का अर्थ, ‘जनता’ ही हो सकता है। रामायण में एक ऐसी सभा का वर्णन है जिसमें जनता के प्रतिनिधि और मन्त्रिमण्डल एकत्रित हुए थे। (अयोध्या का०)। महाभारत में एक सभा का उल्लेख है (१२.८३), जिसमें (१) सहाय, (२) परिच्छद अमात्य, (३) राष्ट्र, सम्मिलित हुए थे। यहाँ ‘सहाय’ का अर्थ स्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये सहायक अमात्य थे। कौटिल्य के ‘अन्य’ से अनुमान किया जाता है कि ये जनता के प्रतिनिधि थे। इसी तरह महाभारत के ‘राष्ट्र’ से शुक्र-नीति की ‘प्रकृति’ को समझना चाहिए।

उपर दी हुई सूचियों से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक 'समिति' और पीछे की मन्त्रिपरिषद् में यह भारी अन्तर था कि जहाँ 'समिति' में जनता की प्रधानता थी, वहाँ मन्त्रिपरिषद् में मन्त्रियों और अन्य राष्ट्रसेवकों की प्रधानता थी। इसलिए यहाँ मन्त्रियों पर विचार करना आवश्यक है। मन्त्रियों की संख्या के विषय में मतभेद है। किसी आचार्य ने ८ की संख्या, किसी दूसरे ने ७ की, यथेष्ट बताई है; किन्तु कौटिल्य की दृष्टि में मन्त्रियों की संख्या स्थिर नहीं की जा सकती। शुक्र-नीति, आदि ग्रन्थों में नीचे लिखे ८ मन्त्रियों का उल्लेख पाया जाता है—

(१) सुमन्त्र (अर्थमन्त्री), (२) पंडितामात्य (धर्म), (३) मन्त्री (अन्तर-राष्ट्रीय विभाग), (४) प्रधान (सभापति), (५) सचिव (युद्ध), (६) अमात्य (कृषि और कर), (७) प्राड्विवाक (न्याय), (८) प्रतिनिधि।

कुछ आचार्यों ने पुरोहित और दूत की भी मन्त्रियों में ही गणना की है। 'प्रतिनिधि' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। जायसवाल के अनुसार, वह जनता का ही प्रतिनिधि होगा और पौर-जानपदों से चुना जाता होगा। यद्यपि ऊपर की सूची में कुमार का उल्लेख नहीं है, तथापि इसके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं कि युवराज की भी गिनती मन्त्रियों में होती थी। प्रधान-मन्त्री के लिए कहीं-कहीं 'सचिव' शब्द का व्यवहार हुआ है और अर्थशास्त्र और बौद्ध-ग्रन्थों में 'अमात्य' का। रामायण में सचिवों और मन्त्रियों को भिन्न-भिन्न वर्गों में रक्खा गया है, और 'अमात्य' सभी उच्च पदाधिकारियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। कौटिल्य के अनुसार, राजा को तीन अथवा चार ही मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करनी चाहिए। ये ही यथार्थ मन्त्री अथवा मन्त्रधर (रामायण), अथवा मन्त्रणह (महाभारत) कहे जाते थे, और ये ही शासन के अधिकारी थे।

प्राचीन ग्रन्थों में 'तीर्थ' शब्द पाया जाता है, जिस पर विचार किये बिना उस समय के शासन-प्रबन्ध का चित्र अपूर्ण ही रह जाता

है। यह शब्द कौटिल्य अर्थ-शास्त्र, रामायण और कुछ नीति-ग्रन्थों में मिलता है। सोमदेव सूरी के अनुसार, 'तीर्थ' धर्माध्यक्षों और कार्य-कर्त्ताओं के लिए प्रयुक्त होता है। इन 'तीर्थों' के नाम नीचे दिये जाते हैं—

(१) मन्त्री, (२) पुरोहित, (३) सेनापति, (४) युवराज, (५) दौवारिक (काञ्चुकी), (६) अन्तर्वासिक, (७) प्रशासक, (८) समाहर्तृ, (९) सन्निधातृ; (१०) प्रदेष्टृ, (११) नायक, (१२) पौर, (१३) व्यवहारिक, (१४) कर्मन्तिक, (१५) मन्त्रि-परिषदाध्यक्ष, (१६) दण्डपाल, (१७) दुर्गपाल, और (१८) अन्तपाल।

अर्थशास्त्र के अनुसार, ये १८ तीर्थ तीन श्रेणियों में विभक्त थे : उत्तम, मध्यम और नीच; और प्रत्येक का वेतन भिन्न था। उत्तम श्रेणी को ४८ हजार, मध्यम को २४ हजार, और निम्न को १२ हजार रजत-पण प्रतिवर्ष मिलते थे। आपस्तम्ब के अनुसार, राजा का वेतन ऐसा होना चाहिए कि वह गुरुओं और अमात्यों के वेतन से अधिक न हो। कौटिल्य के अनुसार, राजा का वेतन, राजा के समान विद्यावाले मन्त्रियों के वेतन के तिगुने से अधिक नहीं होना चाहिए। कौटिल्य की सूची में युवराज का स्थान चौथा रक्खा गया है। शिलालेखों से मालूम है कि मौर्य-काल में कुमारों को महामात्रा बनाकर सूबों में भेजा जाता था और तब वे कुमार महामात्रा कहे जाते थे। जब कोई कुमार केन्द्र में ही किसी शासन-विभाग में नियुक्त किया जाता था, तब वह कुमाराध्यक्ष कहा जाता था। कुमार-महामात्रा को मन्त्र और सहायता देने के लिए उनके साथ भी मन्त्रि-परिषद् होती थी।

प्रधान-मन्त्री के लिए समय-समय पर भिन्न-भिन्न शब्द व्यवहृत हुए हैं। कौटिल्य ने केवल 'मन्त्री' अथवा 'अमात्य', बौद्धों ने 'अग्र-महामात्रा' अथवा 'अमात्य', शुक्रनीति ने 'मन्त्री' और गुप्तों ने 'महा दण्डनायक' का व्यवहार किया है। अर्थ-विभाग के मन्त्री को अर्थशास्त्र ने 'समाहर्तृ' और दोष के मन्त्री को 'सन्निधातृ' कहा है। पीछे ये दोनों मिलकर एक हो गये—'अर्थ-सञ्चय-कृत्'।

राजा और मन्त्रिपरिषद् के अधिकारों पर विचार करने से मन्त्रिपरिषद् का गौरव स्पष्ट हो जाता है। भारतीय नीति का सर्वप्रधान और सर्वप्राचीन नियम यह है कि राजा आप-ही-आप (स्ववश) कोई राष्ट्र का काम नहीं कर सकता। वेदों से लेकर सबसे पीछे के नीति-ग्रन्थों में भी इस नियम ने प्रधानता पाई है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि जो राजा अकेला राज-कार्य चलाना चाहता है, वह मूर्ख है, और राज-पद के अयोग्य है। कौटिल्य ने प्रत्येक राज-कार्य पर मन्त्रिपरिषद् में विचार होना आवश्यक बताया है और कहा है कि बहुमत से जो स्थिर हो, वही राजा को करना चाहिए। शुक्र के अनुसार, राजा कितना ही प्रवीण क्यों न हो, उसे किसी भी राष्ट्रीय विषय पर अकेला निश्चय नहीं करना चाहिए। बुद्धिमान राजा को, परिषद् के अधिकारियों, सभ्य और प्रकृति की राय से ही चलना चाहिए। जो राजा इसके विपरीत करता है, वह अपने नाश को बुलाता है। कहा गया है कि राजा को पहले एक-एक मन्त्री के साथ अलग-अलग विचार करना चाहिए; तदुपरान्त सबके साथ मन्त्रिपरिषद् में। वृहस्पति के अनुसार राजा को उचित (धर्म्य) कार्य भी, मन्त्रियों से अनुमति लेकर करना चाहिए। 'धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात्। करोति चेदाशास्यैनं बुद्धिमद्भिः।' किस रीति से मन्त्रिपरिषद् राजा के स्वेच्छाचार को अंकुश में रखती थी यह आगे बताया जायगा। यहाँ कुछ नीति-वाक्यों का उद्धरण दिया जाता है जिससे राष्ट्र में भारतीय राजा का स्थान स्पष्ट हो जाता है—

रोधनं न भवेत्तस्माद्राजस्ते स्युः सुमन्त्रिणः ॥

नविमेति नृपो येभ्यस्तैः स्यात्किं राज्यवर्द्धनं ।

यथालंकारवस्त्राद्यैः स्त्रियो भूष्यास्तथाहि वै ॥ शुक्र०

ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है कि भारतीय राजत्व आदि-काल से ही नियमित था—पहले समिति और 'राजकर्ताओं' से, पीछे समिति और 'रत्निनों' से, और अन्त में मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिपरिषद् से। मन्त्रिपरिषद् का नियन्त्रण केवल शास्त्रकारों का आदर्श नहीं था। इतिहास में

ऐसे नियन्त्रण के उदाहरण मिलते हैं। अशोक ने अपने एक शिलालेख में आज्ञा दी है कि यदि उसने कोई दान का आदेश दिया हो, और उसके सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद् में कोई आपत्ति उठे, और मन्त्रिमण्डल उसे रोक दे, अथवा मन्त्रिपरिषद् में मतभेद हो अथवा वह दान अस्वीकार कर दिया जाय, तो इसकी सूचना उसे शीघ्र ही मिलनी चाहिए। इस शिलालेख से स्पष्ट है कि उस समय मन्त्रिपरिषद् राजा के दानों पर अंकुश लगा रही थी और सम्भवतः ये दान अनियन्त्रित रूप धारण कर चुके थे और राजकोष की स्थिति से मन्त्रिमण्डल तथा परिषद्, दोनों ही असन्तुष्ट थे। इसी लेख में मन्त्रिपरिषद् के अधिकार भी स्पष्ट हो जाते हैं। इसी बात पर दिव्यावदान में एक मनोरञ्जक कथा है। सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि बौद्ध हो जाने पर अशोक ने दान देना प्रारम्भ किया। पहले तब मन्त्रियों ने आपत्ति नहीं की, क्योंकि सार्वभौम राजा को सर्वभेद करना शास्त्रविहित था, किन्तु जब अशोक बार-बार कोष खाली करने लगे, तो मन्त्रियों को बरबस उनकी आज्ञा अमान्य कर देनी पड़ी। अशोक, कुक्कुटाराम बिहार बनवाना चाहते थे। उन्होंने प्रधान-मन्त्री, राधागुप्त से कहा—‘न मुझे धन-नाश, शासन-नाश और न अधिकार-नाश का दुःख है।’ उस समय कुणाल का पुत्र सम्पाति युवराज था। मन्त्रियों ने उससे कहा—‘कुमार ! राजा अशोक तो अल्प काल ही रहनेवाले हैं। वे द्रव्य कुक्कुटाराम को भेज रहे हैं। राजा की शक्ति तो कोष में ही है; इससे उन्हें रोकना चाहिए।’ तब कुमार ने कोषाध्यक्ष को मना कर दिया। अशोक को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अमात्यों और पौरों को बुलवाकर पूछा—‘इस समय पृथ्वी का ईश्वर कौन है?’ तब अमात्य उठकर और हाथ जोड़कर बोले—‘देव ही तो पृथ्वी के स्वामी हैं।’ इस पर अशोक की आँखों में आँसू भर आये, और वे उदासमुख हो बोले—‘दानिण्य के कारण भूठ क्यों बोलते हो? हमारा ऐश्वर्य छीन लिया गया।’ दिव्यावदान इसी कथा की एक गाथा उद्धृत करता है—

त्यागशूरो नरेन्द्रोऽसौ अशोको मौर्यकुञ्जरः ।

जम्बूद्वीपेश्वरो भूत्वा जातोऽर्द्धाभिलकेश्वरः ॥१॥

मन्त्रिपरिषद् ने केवल अशोक ही को नियन्त्रित नहीं किया । रुद्रदामन (गुजरात) ने भी ऐसे एक नियन्त्रण का अपने शिलालेख में उल्लेख किया है । चन्द्रगुप्त मौर्य ने गुजरात में सुदर्शन नामक भील सायराबी के लिए बनवाई थी । वह रुद्रदामन के समय में टूट गई थी, और पानी न टिकने के कारण, सायराबी का काम बन्द हो गया था । रुद्रदामन ने उसकी मरम्मत की बात उठाई, किन्तु मन्त्रिमण्डल ने खर्च देना अस्वीकार कर दिया । तब रुद्रदामन ने अपने निजी रुपये से उसकी मरम्मत करवाई । यद्यपि हम इन मन्त्रियों की बुद्धि की प्रशंसा नहीं कर सकते तथापि ये दोनों ही उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि जिन नियन्त्रणों का उल्लेख हमारे धर्म और नीति-शास्त्रों में पाया जाता है, वे केवल शास्त्रकारों के आदर्श मात्र नहीं थे, वरंच मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल, जनता से प्राप्त अपने अधिकारों को राष्ट्र की भलाई के लिए, दृढ़ता से व्यवहार में लाते थे ।

ऊपर पौर-जानपदों का उल्लेख किया गया है । अनुमान किया जाता है कि जैसे-जैसे राज्यों की वृद्धि होती गई, वैदिक समिति का रूपान्तर होता गया । उसका एक अंग—‘राजकृत्’—तो मन्त्रिपरिषद् में बदल गया और मूल समिति, पौर-जानपदों के रूप में परिणत हो गई । पौर-जानपदों का विषय गम्भीर और व्यापक है, और इस लेख में उस पर सर्वांगीण विचार करना असम्भव है । इसलिए यहाँ एक संक्षिप्त वर्णन देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा । वैदिक समय में ‘विश’ शब्द का व्यवहार हुआ है । ‘विश’ का सम्बन्ध किसी विशेष देशखण्ड से नहीं रहता था; बल्कि जिस देश में जो ‘विश’ रहता था, वह उसी नाम से विख्यात हो जाता था—जैसे, जहाँ कुरु रहते थे, वह कुरु-देश, जहाँ पांचाल रहते थे, वह पांचाल-देश कहा जाता था । राजा भी किसी देश का राजा न होकर, उसी ‘विश’ का राजा कहा जाता था—जैसे,

कुरुणां, पांचालानां, मागधानां राजा, इत्यादि; अथवा वह केवल कौरव, यादव, मागध आदि कहा जाता था। राजा के लिए 'विशां पतिः' का भी प्रयोग मिलता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्राचीनतम समय के राष्ट्र कुल-संस्तृत थे। जब राजाओं में चक्रवर्त्ती बनने की वृत्ति बढ़ी, और दूसरे राजाओं को हराकर उनके राज्यों को अपने राज्य में मिला लेने की प्रथा चल गई, तो राष्ट्र-सम्बन्धी विचार भी बदल गये।

'पुर' से राष्ट्र का प्रधान नगर (राजधानी) समझा जाता था, 'जानपद' से राष्ट्र का शेष भाग। 'पौर' राजधानी के नागरिकों की संस्था थी और 'जानपद' शेष देश की संस्था। खारवेल के हाथीगुम्फ शिलालेख में लिखा है कि उन्होंने 'जानपद' को 'अनुग्रह' (सरकारी कर से छूट) दिया था। रामायण और धर्म-शास्त्रों के देखने से मालूम होता है कि 'जानपद' जनता की एक सभा थी, जिसके अपने नियम-उपनियम होते थे। इसी तरह 'पौरों' के भी अपने नियम होते थे। याज्ञवल्क्यादि का कहना है—राजा को चाहिए कि वह इन नियमों का समर्थन करे और प्रजा को उन्हें मानने के लिए बाध्य करे। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रत्येक ग्राम और नगर में, एक निवासियों की संस्था (समूहस्थवर्ग) होती थी। इन्हीं 'पौरों' और 'जानपदों' के प्रतिनिधियों की वह सभा होती थी, जिसे राजा समय-समय पर बुलाता था, और जिसके सामने राष्ट्रसम्बन्धी प्रत्येक गम्भीर विषय को उपस्थित करता था; जैसे, नये कर का लगाना, युद्ध, सन्धि, यौवराज्यादि। रामायण में ऐसी ही दो सभाओं का वर्णन है,—एक, जब दशरथ ने रामचन्द्र के यौवराज्याभिषेक के लिए, पौर-जानपदों से अनुमति माँगी; और दूसरी, जब पौर-जानपदों के साथ, चित्रकुट जाकर, और श्री रामचन्द्र के अभिषेक को अस्वीकार कर देने पर भरत ने उनसे पूछा कि उनकी राय क्या थी। पौर-जानपद के प्रतिनिधियों के उच्च विचारों और आदर्शों की सूचना इसीसे मिलती है, कि यद्यपि उन्हें श्रीराम प्राण की तरह प्यारे थे, उन्हें अभिषिक्त करने के लिए ही वे इतनी

दूर से आये थे, और उनसे यह बात छिपी न थी कि भरत उन्हीं के अभिप्रेत पर तुल्य थे, फिर भी सबने श्रीराम की युक्तियों को अकाट्य और धर्मसंगत ही बताया।

‘पौर’, ‘नैगम’, ‘श्रेणी, और ‘पूजा’ के अर्थों के विषय में मतभेद है, किन्तु स्थानाभाव से उन पर यहाँ विचार सम्भव नहीं। इतना ही स्मरण रखना चाहिए कि ‘पौर’ केन्द्रीय राजधानी, तथा प्रान्तीय राजधानियों के नागरिकों की सभा के लिए व्यवहृत होता आया है। इस सभा के अधिकार में अनेक महत्वपूर्ण सार्वजनिक कार्य थे; जैसे (१) पौष्टिक—पुर के व्यापार को पुष्ट करना; (२) राजाज्ञा से प्राप्त, सृत नागरिकों और बच्चों और देवालयों के धन की देख-रेख करना; (३) शान्तिक—नगर में शान्ति बनाये रखना; (४) न्याय—वितरण; (५) धर्मस्थानों, जैसे ‘सभा, प्रपा, तटाक, आराम और देवगृह’ की देख-रेख। मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र की शासनविधि का वर्णन किया है।

‘जानपद’ में राज्य के गाँवों के प्रतिनिधि होते थे। ग्रामवासी एक ‘ग्रामीण’ को चुनते थे, और सम्भवतः वही ‘जानपद’ संघ का सदस्य होता था। ऊपर कहा गया है कि पौरों और जानपदों के अपने नियम—‘समय’, ‘धर्म’, ‘स्थिति’, ‘सम्बित्’—होते थे, जिसे ‘सम्बित्-पत्रों’ पर लिखकर रक्खा जाता था। किन्तु, राष्ट्र के न्यायालयों में वे ही मान्य होते थे, जो राजा के प्रतिकूल नहीं होते। जब कभी राजा को रुपये की आवश्यकता होती, तब उसे पौर-जानपदों से भिन्ना माँगनी पड़ती थी। महाभारत (शान्तिपर्व) में उन उपायों का विशद वर्णन है, जिनसे राजा पौर-जानपद को अपने वश में कर सकता था और अपना प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत करा सकता था। कौटिल्य ने भी भिन्ना की विधि बताई है और यह भी बताया है कि शत्रु-राजा के पौर-जानपद को कैसे उसके प्रतिकूल बनाया जा सकता है। प्राचीन नीति-ग्रन्थों में और जहाँ-जहाँ रामायण, महाभारत में पूर्व के नीति-शास्त्रकारों का उल्लेख किया गया है, वहाँ स्पष्ट लिखा है कि पौर-जानपद

शासन को नष्ट भी कर सकता है। शिज्ञालेखों से भी मालूम होता है कि सभी बुद्धिमान और विख्यात राजा, पौर-जानपद का पूर्णरूप से आदर-सत्कार किया करते थे।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि भारत के स्वर्ण युग में आर्य राजाओं पर ऐसे अंकुश काम करते रहते थे कि वे कभी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते थे। यदि वे कभी ऐसी मूर्खता कर भी जाते, तो पदच्युत भीकर दिये जाते थे।

अब शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में हम देखें कि प्राचीन समय में हमारे यहाँ क्या पद्धति थी। शुक्र-नीति में लिखा है—

राज्यं प्रजाबलं कोपः सुनृपत्वं न वर्द्धितम् ।

यन्मन्त्रतोऽरि नाशस्तैर्मन्त्रिभिः किं प्रयोजनं ॥

इस सिद्धान्त के अनुसार, राजा, प्रजा, बल और कोष की वृद्धि करना, शत्रुओं का नाश करना और 'सुनृपत्व' स्थापित करना मन्त्रियों का उत्तरदायित्व था। 'सुनृपत्व' पद महत्वपूर्ण है। मन्त्री का एक मुख्य दायित्व स्वयं 'राजा' था। उसे राजा को शास्त्रविहित मार्ग पर ले चलना पड़ता था, ताकि 'सुनृपत्व' बना रहे। ऊपर उद्धृत श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्र के प्रत्येक विभाग का बोझ मन्त्री पर ही रहता था। इस सिद्धान्त का फल यह हुआ था कि राजा, मन्त्रिमण्डल की राय को उलट नहीं सकता था। इससे यह प्रथा हो गई थी कि कोई भी कार्य क्यों न हो, उसका निर्णय और आदेश लिखकर ही किये जाते थे। शुक्र ने लिखा है—

अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत्करोति यः ।

राजकृत्यमुभौ चोरौ भृत्यनृपतौ सदा ॥

कौटिल्य के अनुसार, सभी 'आत्यायिक' कार्य तो परिपद् की बैठक में किये जाते थे, किन्तु मामूली काम दफ्तरों में ही समाप्त कर दिये जाते

थे । शुक ने कार्यक्रम इस रीति से बताया है—प्रस्तुत कार्य का लेख क्रम से मन्त्री, प्रांडविवाक, पण्डित और दूत के पास लाया जाता था । वे उसे पढ़कर और विचार कर लिखते थे—‘स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं’—मैं इस लेख के विरुद्ध नहीं हूँ ; तब वह अमात्य के पास भेजा जाता था और वह लिखता था—‘साधुलिखनिमस्ति’ । इस रीति से, सुमन्त्र, ‘सम्यग्विचारितं’ ; प्रधान, ‘सत्यम् यथार्थम्’ ; प्रतिनिधि, ‘अंगीकर्तुं योग्यम्’ ; युवराज, ‘अंगीकर्तव्यम्’ ; पुरोहित, ‘लेख्य स्वाभिमतं’ बारी-बारी से लिखकर अपने-अपने लेख के नीचे अपनी मुद्रा अंकित करते थे । तब वह लेख राजा के पास जाता था और वह लिखता था—‘अंगीकृतम्’ और अपनी मुद्रा लगाता था । इसके अनन्तर वह लेख मन्त्रिमण्डल की बैठक में पेश किया जाता था, और स्वीकार हो जाने पर, सभी मन्त्री उस पर हस्ताक्षर करते थे, और तब उस पर परिषद् की मुहर लगाई जाती थी । इसके बाद वह लेख फिर राजा के पास लाया जाता था, और राजा, बिना विलम्ब के उस पर ‘दृष्टम्’ लिखता था ; क्योंकि वह ‘सम्यग् दर्शनाक्षमः’ था—तात्पर्य यह कि वह मन्त्रिमण्डल के निर्णय को बदल नहीं सकता था । फिर वही लेख ‘राजा’ समझा जाता था ।

[अक्तूबर, १९४६]

प्राचीन भारत के गण-राष्ट्र

आज स्वतन्त्र भारत के सामने सर्वश्रेष्ठ प्रश्न भारत के गाँवों और ग्रामवासियों का है। इस प्रश्न को हल करना, और शीघ्र ही, अनिवार्य तो है ही। भारत का जीवन भारत के गाँवों में ही है—यह पुनरुक्ति होने पर भी इसे बार-बार कहने की आवश्यकता है; क्योंकि जिन गाँवों ने इस देश को एक समय स्वर्ग बना रखा था, वे आज हजारों वर्षों के दासत्व से नरक के समान हो चुके हैं और यदि उनका कायाकल्प नहीं हुआ तो वे इस नवीन राष्ट्र को अपने साथ ही गढ़े में खींच ले जायेंगे। सामूहिक उन्नति के लिए परस्पर सद्भाव जैसे गुण का गाँवों में आज लोप ही हो गया है। इसी गुण को विकसित करने के लिए प्राचीन समय में पञ्चायतों की व्यवस्था थी। आज पुनः हमारे नेताओं ने भारत में पञ्चायती राष्ट्र स्थापित करने का श्रेष्ठ और पवित्र संकल्प किया है। इस कार्य में सहयोग देना हमारा आवश्यक कर्तव्य है।

एक समय था जब विहार के उत्तरी भागों में अनेक पञ्चायती राष्ट्र स्थापित हुए थे और उनके पराक्रम, वैभव, बुद्धिमत्ता, सुव्यवस्था और न्याय-व्यवस्था की प्रशंसा बौद्ध, जैन और पौराणिक ग्रन्थों में पायी जाती है। उनकी शासन-शैली का उल्लेख आज के वातावरण में अवश्य उपयोगी सिद्ध होगा। अपने पूर्वजों की अद्वितीय व्यवस्था का परिचय पाना सम्भव है हमें भी अपने पुनरुत्थान के लिए प्रेरणा मिले।

पाश्चात्य विद्वान् बराबर यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते आये हैं कि सर्व-प्रथम पाश्चात्य देशों में ही प्रजातन्त्र राष्ट्र की स्थापना हुई थी, और

भारत क्या किसी भी देश में उनके पहले वैसी व्यवस्था नहीं थी। किन्तु गत ४० वर्षों में पुरातत्त्ववेत्ताओं के कठिन परिश्रम ने इस दम्भोक्ति के विरुद्ध अकाट्य प्रमाणों को एकत्र कर दिया है, और अब कुछ भी सन्देह नहीं रह गया कि भारत में, ऋग्वैदिक युग के अन्तिम दिनों से ही, प्रजातन्त्र राष्ट्र स्थापित होने लगे थे और पाणिनी और भगवान् बुद्ध के समय तक न केवल उनकी संख्या ही यथेष्ट हो गयी थी, बल्कि उनकी शासन-चातुरी, उनका बल, वैभव आदि किसी भी अन्य राष्ट्र से कम न थे। इन्हीं पुरातत्त्ववेत्ताओं में भारद्वाज, जायसवाल, मुखर्जी, बनर्जी, लॉ इत्यादि महानुभाव हैं। इन लोगों ने बड़े परिश्रम से वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, जैन, यवन आदि प्रमाणों को एकत्र किया है। उन्हीं प्रमाणों के आधार पर गण-राष्ट्रों की कुछ बातें यहाँ दी जाती हैं।

गणों की उत्पत्ति के विषय में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। वेदों में तो राजाओं, और जनता की समितियों और सभाओं का ही उल्लेख पाया जाता है—जैसे, विशस्त्वा सन्वावाञ्छन्तु (ऋक् १०.१७३.१ ; ध्रुवया ते समितिः कल्पनामिह (अथ० ६. ८८. ३) तं सभा च समितिश्च सेना च (अथ० १५. ६. २)। गणों का उल्लेख पहले पहल ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण, यजुर्वेद और उसके तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है। गण का अर्थ 'संख्या' है और गण-राज्य का अर्थ 'बहुतों का राज्य (शासन)' किया जा सकता है। गणपति की प्रसिद्ध वंदना 'गणनांत्वा गणपति गवामहे' से अनुमान किया जा सकता है कि गणपति की पूजा विशेषतः गणों में ही होती थी। गणों के अनेक भेद पाये जाते हैं और प्रत्येक का संघटन न्याय था। किन्तु प्राचीनतम गणों के रूपों को उनके अन्तिम रूपों से मिलान करने पर हम प्रजातन्त्र के नियमों की प्रगति भली-भाँति समझ सकते हैं।

गणों के सबसे प्राचीनतम रूप भोज्य, स्वराज्य, वैराज्य आदि थे। ऐतरेय ब्राह्मण (८. १४) में यह पाया जाता है—'दक्षिणाभ्यां दिशि ये के च सात्वता राजानो भोज्यायैव तेऽभिपिच्यन्ते। भोजेत्येनानभिषि-

क्तानाचक्षत'..... ।' इससे यह स्पष्ट है कि इस तरह के राष्ट्र दक्षिण भारत में थे, और उनमें जो राष्ट्रपति के पद के लिए चुना जाता था, उसका विशेष रूप से अभिषेक होता था और वह भोज कहलाता था। महाभारत भी भोज्य-राष्ट्रों का उल्लेख करता है 'राजा, भोजो, विराट्, सम्राट्।' (महा० शा० प०, ६७. ५४) अशोक के शिला-लेखों, और खारवेल के हाथीगुम्फ लेख में भी भोजों का वर्णन आता है। भोज्य-गणों के उदाहरणार्थ, अन्धक-वृष्टियों का राष्ट्र बताया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सात्वतों में भोज्याभिषेक चलता था और 'सात्वत' एक नाम यादवों का ही था। ये सौराष्ट्र में रहते थे, किन्तु अशोक के समय में वे दक्षिण भारत में राष्ट्रकूटों के साथ पाये जाते हैं।

स्वाराज्य के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण कहता है—'एतस्यां प्रतीच्यां ये के च नीच्यानां राजानो येऽपरच्यानां स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते।' स्वाराज्य का उल्लेख यजुर्वेद में भी पाया गया है (शु० य० १५. १३)। वैराज्य भी यजुर्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है। (शु० य० १५, ११, ऐ० ८. १४)। 'वैराज्य' और 'स्वाराज्य' में यही अन्तर था कि पहले में कोई खास व्यक्ति राष्ट्रपति के पद पर अभिषिक्त होता था। समस्त जनता ही राजकर्म के लिए अभिषिक्त होती थी। 'वैराज्य' राष्ट्रों के उदाहरण में उत्तर कुरु और उत्तर माद्र राष्ट्र बताये जाते हैं और यह भी पाया गया है कि ऐसे राष्ट्र हिमालय के आसपास ही थे। ऐसे राष्ट्रों के विषय में कौटिल्य ने यह आक्षेप किया है कि उनके प्रति किसी को भी ममता नहीं होती, और लोग या तो उन्हें बेंच डालते हैं या छोड़ कर चले जाते हैं।

पाणिनी ने दो प्रकार के गण (अथवा संघ)—राष्ट्रों का वर्णन किया है—(१) आयुधोपजीवी; (२) राजशब्दोपजीवी। चाणक्य ने भी दो ही प्रकार के गण बताये हैं, किन्तु 'आयुधोपजीवी' शब्द के स्थान पर 'शस्त्रोपजीवी' शब्द का व्यवहार किया है। गण-राष्ट्रों के लिए सबसे प्राचीन शब्द था 'संघ'; पीछे 'गण' शब्द प्रचलित हो गया। अनुमान किया

जाता है कि भगवान् बुद्ध ने अपने संघ का नाम और विनय (नियम) राष्ट्रीय गणों के संघटन और नियमों का अनुकरण करके ही निश्चित किये । पाणिनी भी 'गणों' के लिए 'संघ' शब्द का ही प्रयोग करते हैं ।

पाणिनी के सूत्रों में अनेक गण-राष्ट्रों का उल्लेख पाया जाता है । आयुधोपजीवी संघों में (१) वृक, (२) दामनी, (३) छःत्रिगर्त्त, (४) यौधेय, और (५) पार्व्व बताये गये हैं । त्रिगर्त्तों के साथ अर्जुन का युद्ध प्रसिद्ध है । यौधेयों के विषय में आगे विचार किया जायगा । किन्तु और गणों के विषय में अभी तक विशेष पता नहीं चला है । राजशब्दोपजीवी संघों में छः संघों का उल्लेख है—(१) मद्र, (२) वृजि, (३) राजन्य, (४) अन्धक-वृष्णि, (५) महाराज और (६) भर्ग । इनमें से (१), (३), (५) और (६) के विषयों में पूरी बातों का पता नहीं चला है । केवल मद्र-गण का उल्लेख गुप्तवंशीय सम्राटों के समय में भी मिलता है । कौटिलीय अर्थशास्त्र में शस्त्रोपजीवी गणों में (१) काम्वोज, (२) सुगर्गा, (३) क्षत्रिय, (४) श्रेणी की गणना की गई है । राजशब्दोपजीवी गणों में (१) लिच्छवी, (२) वृजिक, (३) मल्लक, (४) मद्रक, (५) कुक्कुर, (६) कुरु और ७ पञ्चाल के नाम पाये जाते हैं ।

उपयुक्त विभागों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राजशब्दोपजीवी', और 'शस्त्रोपजीवी' शब्द साधारण अर्थ में नहीं व्यवहृत हुए हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि 'राजशब्दोपजीवी' वे गण के थे जिनके राष्ट्रपति को 'राजा' की उपाधि दी जाती थी; और 'शस्त्रोपजीवी' गण वे थे जहाँ प्रत्येक व्यक्ति सेना का सिपाही रहता था । इसका समर्थन कुछ यवन लेखकों के लेखों में पाया जाता है जिन्होंने कुछ गणों के बारे में लिखा है कि वे युद्ध-विद्या पर अधिक ध्यान देते थे । किन्तु ऊपर दी हुई सूची को पूर्ण नहीं समझा जा सकता, क्योंकि जब अलीकमुन्दर (Alexander) * भारत पर चढ़ आया तो उसे अनेक ऐसे शक्तिशाली

* अशोक के शिलालेखों में Alexander के लिए अलीकमुन्दर ही पाया जाता है ।

गण राष्ट्रों से लड़ना पड़ा, जिनके सब नाम ऊपर की सूचियों में नहीं आते, उदाहरणस्वरूप कठों, मौभूतियों, अरिष्टों, बुद्धकों; मालवों, शिवियों, अम्बष्ठों के नाम दिये जा सकते हैं।

यवन लेखकों ने इन वीर गणों की वीरता, सुव्यवस्था इत्यादि की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने एक ब्राह्मणगण का भी वर्णन किया है जिनके कुछ नेताओं को अलीकसुन्दर ने फाँसी दे दी; क्योंकि वे अलीक-सुन्दर की अधीनता स्वीकार करनेवाले राजाओं की निन्दा करते थे और स्वाधीन राष्ट्रों को युद्ध के लिए उभारते थे।

बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि बुद्धदेव के समय में ये गण-राष्ट्र प्रसिद्ध थे— (१) कपिलवस्तु के शाक्य, (२) रामगाम के कोलीय, (३) वैशाली के लिच्छवी, (४) मिथिला के वृजि, (५) कुशीनगर और पावा के मल्ल, (६) पिप्पली बन के मोरीय और (७) वत्सराष्ट्र के पास के भर्ग।

ऊपर की सूची से स्पष्ट है कि बौद्ध-ग्रन्थों ने उन्हीं राष्ट्रों का वर्णन किया गया है जिनसे बौद्धों का उन दिनों अधिक सम्पर्क था; उन गणों के नाम नहीं पाये जाते जो अलीकसुन्दर से लड़े थे। ऊपर बताये हुए देशों को ध्यान में रखते हुए यही कहना पड़ता है कि भौज्यादि गण-राष्ट्र उत्तर, पश्चिम और दक्षिण में स्थित थे और पूर्वी देशों के गण-राष्ट्र दूसरे ही ढँग के थे। आधुनिक बिहार और युक्त-प्रान्त के पूर्वी भाग में पाँच गण-राष्ट्र थे—शाक्य, कोलीय, लिच्छवी, वृजि, और मल्ल। इनमें लिच्छवी और वृजि तो बिहार में थे, और शेष युक्त-प्रान्त में।

‘भौज्य’ राष्ट्रों में एक या एक से अधिक सर्व-सम्मत राष्ट्रपति चुने जाते थे और वे ‘भोज’ कहलाते थे। अन्धक-वृष्टिण्यों का इसी तरह का संघटन था। अन्धक और वृष्टिण दो कुल के प्रतीत होते हैं, जिन्होंने एक सूत्र में बँधकर एक सम्मिलित राष्ट्र बनाया था। महाभारत से मालूम होता है कि एक समय अन्धकों के प्रतिनिधि अक्रूर और वृष्टिण्यों के प्रतिनिधि श्रीकृष्ण थे; दूसरे समय में उग्रसेन और वासुदेव, फिर सिनि और

वासुदेव थे। इससे प्रतीत होता है कि भोजों का चुनाव होता था। अन्धक-वृष्णियों के जो सिक्के मिले हैं उनमें यह विशेषता है कि जहाँ और गणों ने अपने सिक्कों पर केवल गण का नाम दिया है, अन्धक-वृष्णियों ने 'राजन्य' शब्द का भी व्यवहार किया है, जैसे—'वृष्णि-राजन्न-गणस्य', इन राष्ट्रों में परस्पर गुटबन्दी भी थी जिसका वर्णन महाभारत (शान्ति पर्व, ८१वाँ अध्याय) में मिलता है।

कठों और सौभूतियों के विषय में यवन लेखकों से यही मालूम होता है कि इनका राज-प्रबन्ध बहुत अच्छा था। वहाँ के लोग सुन्दरता पर बहुत ध्यान देते थे और लड़के-लड़कियों को अपने मनोनुकूल विवाह करने की स्वतन्त्रता थी। वहाँ के राष्ट्र-संघटन का कोई वर्णन नहीं है। यौधेयगण विख्यात था और विस्तृत राष्ट्र होने के कारण इससे यवन भय खाते थे। इन पर आक्रमण करने का अलीकसुन्दर की सेना को साहस न हुआ और यहीं से वह वापस फिरी। इस राष्ट्र के विषय में यवनों ने लिखा है कि वहाँ कुल राष्ट्र (Aristocracy) था, और वहाँ की सभा के सदस्य पाँच हजार थे। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक हाथी देता था। जितने शिलालेख इनके विषय में मिले हैं सबमें इनकी वीरता, वंशाभिमान इत्यादि गुणों का वर्णन मिलता है। रूद्रदामन लिखता है—'सर्वज्ञाविष्कृत-वीरशब्दजातोत्सेकाभिधेयानां यौधेयानां।' उनके सिक्कों पर 'यौधेयानां' अंकित पाते हैं। किसी-किसी पर हाथी और साँड़ के चित्र मिलते हैं। किसी पर कार्तिकेय की मूर्ति पायी जाती है। एक तीसरे प्रकार का सिक्का है जिसपर बरछा धारण किये एक वीर पुरुष की मूर्ति पायी जाती है और उसपर अंकित है 'यौधेयगणस्य जयः।' यौधेयों के शिलालेखों से मालूम होता है कि वे एक राष्ट्रपति चुनते थे और वह राष्ट्रपति सब आज्ञा-पत्रों पर यह स्पष्ट लिखता था कि वह गण का चुना हुआ राष्ट्रपति था। जिला होशियारपुर में जो लेख मिले हैं, उनमें मन्त्रधारों का उल्लेख है, जिससे मालूम होता है कि राष्ट्रपति के साथ एक मन्त्रिमण्डल भी होता था।

अरिष्टों, शिवियों, और अम्बष्ठों के विषय में अधिक प्रमाण नहीं मिलते। यवन लेखकों ने शिवियों को जुद्धकों और मालवों का मिश्र बताया है और वे सम्भवतः एक दूसरे की सीमा पर रहनेवाली जातियाँ थीं। अरिष्टों का केवल नाम ही मिलता है। अम्बष्ठों के राष्ट्र-विधान को यवनों ने प्रजातन्त्र (Democracy) बताया है। उनकी सेना में ६० हजार पैदल सैनिक, ६ हजार घोड़सवार, और ५ सौ रथ थे। वे परम वीर थे और तीन प्रसिद्ध सेनापतियों को अलीकसुन्दर का सामना करने के लिए चुना था। परन्तु वृद्धों की राय मान कर लड़ने के बदले उन लोगों ने अलीकसुन्दर के पास ५० चुने हुए दूतों को भेजा।

जुद्धकों और मालवों के साथ अलीकसुन्दर का घोर संग्राम हुआ और अलीकसुन्दर की जान किसी-किसी तरह बची। ये दो गण भेलम नदी के तट पर ही रहते थे और यद्यपि वे उस लड़ाई में जीत न सके, उन लोगों ने अलीकसुन्दर पर इतना प्रभाव डाला कि जब सुलह की बातें होने लगीं और दूत वहाँ गये, तो अलीकसुन्दर ने उनके स्वागत में कुछ उठान रखवा। किन्तु जुद्धकों, मालवों, और शिवियों का अलग-अलग वर्णन कई शताब्दियों तक नहीं मिल कर फिर सुंगों के समय में मिलता है। उस समय मालव आधुनिक मालवा में बसे पाये जाते हैं और शिवि चित्तौर के आस-पास। मालवों के सिक्कों पर 'मालवानांजयः' 'मालनगणस्य' आदि, और शिवियों के सिक्कों पर 'मभिभूमिकाया शिविजनपदस्य' अंकित मिलते हैं। जुद्धक शायद मालवों में ही मिल गये, क्योंकि उनका पृथक उल्लेख नहीं मिलता।

जो गण-राष्ट्र बिहार अथवा युक्त-प्रान्त में थे, वे राज-प्रधान राष्ट्रों के परिवर्तित रूप ही मालूम पड़ते हैं। यह रामायणादि ग्रन्थों से पता चलता है कि वैशाली और मिथिला में प्राचीनतम समय से सूर्य-वंशी राजा ही राज्य करते आये थे। कब और कैसे वहाँ गण-राष्ट्र बन गये, इसका पता नहीं चलता। कोलीयों और मल्लों का पूर्व रूप क्या था यह कहना कठिन है। किन्तु इन पाँचों गण-राष्ट्रों के विधानोंपर विचार करनेपर यवन-कुलराष्ट्रों से उनकी समता साफ मालूम होने लगती है। भारत के कुल-राष्ट्र

अथवा यवनों के Aristocracy वा Oligarchy एक ही थे; क्योंकि दोनों में ही विशेष कुलवालों के ही हाथों में शासन की बागडोर रहती थी। यद्यपि इनके विषय में 'गण' ही शब्द का प्रयोग पाया जाता है, इन सभी राष्ट्रों में शासन का अधिकार विशेष वंशों को ही रहता था, और उनमें से ही राष्ट्र-पति चुने जाते थे। परन्तु इनका भी उदाहरण मिलता है कि बाहर से आकर बसा हुआ मनुष्य भी राष्ट्र-पति अथवा सेनापति के स्थान पर चुना जाता था—जैसे मिथिला का खण्ड जिसका वर्णन आगे दिया हुआ है।

शाक्य वंश में ही भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। उस समय उसके पिता शुद्धोदन ही राष्ट्र-पति थे। शाक्यों की उत्पत्ति के विषय में मतभेद था किन्तु प्रमाणों के देखने से अब सन्देह नहीं रहा कि यह वंश ऐद्वाकुओं का था। (मिथिला और वैशाली के राजवंश भी ऐद्वाकुओं के ही थे।) शाक्यों का राष्ट्र विस्तृत था। बौद्ध-ग्रन्थों में राजधानी कपिल-वस्तु को छोड़ कर आठ नगरों का उल्लेख मिलता है। उनके नाम थे—चातुमा, सामगान, खोम्मदुस्सा, शीलवती, मेलुप, उलुम्प, सकर और देवदह। भगवान् बुद्ध की माता को जन्म देने का गौरव देवदह को ही मिला। प्रत्येक नगर में एक संस्थागार था जहाँ पर वहाँ के निवासी एकत्र होकर सामाजिक, आर्थिक और नैतिक विषयों पर विचार करते और अपना कार्यक्रम स्थिर करते थे। प्रधान राष्ट्रीय सभा कपिल-वस्तु के संस्थागार में ही बैठती थी। इस सभा के सदस्यों की संख्या ५०० थी। एक मनुष्य प्रधान के पद पर चुना जाता था, जो सभा का सभापतित्व ग्रहण करता था और राष्ट्र का प्रधान कर्मचारी भी होता था। उसकी उपाधि 'राजा' की होती थी। लिच्छवियों की तरह शाक्यों में तीन प्रधान कर्मचारी नहीं होते थे और न उनके 'राजा' को वैसे अधिकार प्राप्त थे जैसे कोसल, मगध आदि के स्वतन्त्र राजाओं को प्राप्त थे।

इसमें सन्देह नहीं कि शाक्यों का राष्ट्र बुद्धदेव के समय में ही बहुत प्राचीन गिना जाता था। किन्तु उनके समय में वह स्वतन्त्र नहीं था। वह कब और कैसे कोसल के अधीन हो गया, इसका कोई ठीक

प्रमाण नहीं मिलता। जातकों में दिये हुए कथानकों से यह तो मालूम होता है कि कोसल के तीन राजा (वंक, दम्बसेन और कंस) बराबर काशी से लड़ते आये थे और अन्त में कंस ने काशी को हराकर कोसल में सम्मिलित कर लिया। किन्तु कोई भी कथा ऐसी नहीं पायी जाती जिसमें शाक्यों और कोसलों को कोई बुद्धदेव के पहले की लड़ाई वर्णित हो। हाँ, शाक्यों के नाश और पतन की कथा अवश्य मिलती है। प्रसेनजित का पुत्र विडुडाम जब सिंहासन पर बैठा तब उसने कपिलवस्तु पर आक्रमण करके उसका ध्वंस कर दिया।

रामायण के अनुसार प्राचीनतम समय में विदेह और वैशाली के राजा ईक्ष्वाकुवंशज ही थे। किन्तु बुद्धदेव के समय में ही हम विदेह में वृजियों को और वैशाली में लिच्छवियों को पाते हैं। पाणिनी की सूची में वृजियों का नाम तो है, किन्तु लिच्छवियों का नाम नहीं है। यह तो स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनी के समय में ही विदेह में वृजियों की प्रधानता हो गयी थी। किन्तु, उस सूची में लिच्छवियों का नाम न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि पाणिनी के समय में लिच्छवी थे ही नहीं; क्योंकि पाणिनी ने तो प्रसंग वंश ही देशों अथवा जातियों का उल्लेख किया है। प्राचीन समय में विदेहों और वृजियों में क्या सम्बन्ध था, यह भी कहना असम्भव-सा प्रतीत होता है। बहुमत तो इस पक्ष में है कि विदेह ही पीछे वृजि अथवा वृजिक कहलाने लगे। जो हो, वृजियों और लिच्छवियों में घना सम्बन्ध रहता था और बहुत दिनों तक राजा अजातशत्रु से लड़ने के लिए दोनों संघटित रहे। उस समय उनकी एक सम्मिलित सभा थी किन्तु उस सभा में कितने लिच्छवी और कितने वृजि चुने जाते थे इसका पता नहीं है। जब लिच्छवियों और मल्लों का संगठन हुआ था तब सम्मिलित सभा में १८ सदस्य थे—६ लिच्छवी, और ६ मल्ल। बौद्ध ग्रन्थों ने सम्मिलित लिच्छवी-वृजि संघ को सम-वज्जि कहा है। कुछ प्रमाणों के आधार पर बिम्बिसार के कुछ ही दिन पहले तक विदेह में राजा का होना मानना ही पड़ेगा। दूसरी ओर, यह

भी सिद्ध होता है कि अजातशत्रु के समय में वृजियों का गण-राष्ट्र था। सम्भव है कि इसी बीच में राजा को हटाकर वृजियों ने गण-राष्ट्र का निर्माण कर लिया हो। वृजियों के विषय में इससे अधिक बातें नहीं ज्ञात होती।

लिच्छवियों के विषय में कुछ अधिक सामग्री मिलती है। बौद्ध ग्रन्थों में उस नगर के भिन्न-भिन्न वर्णन मिलते हैं। जातकों में बताया गया है कि वैशाली की रक्षा के लिए तीन सुदृढ़ प्राचीर थे और उनकी दूरी एक दूसरे से इतनी थी जितनी दूर गाय का शब्द सुन पड़ता है। अन्य ग्रन्थों में लिखा है कि वैशाली के दो भाग थे—एक भीतरी और एक बाहरी। विनयवस्तु में विस्तृत वर्णन है। उसके अनुसार तीन स्कन्धों में वैशाली नगरी बँटी थी। प्रथम स्कन्ध में ७ हजार घर थे, जिनके द्वार सोने के थे; दूसरे स्कन्ध में १४ हजार घर थे, जिनके द्वार चाँदी के थे; और तीसरे स्कन्ध में २१ हजार घर थे जिनके द्वार ताम्बे के थे। प्रथम स्कन्ध में उत्तम, द्वितीय में मध्यम और तृतीय में अधम श्रेणी के लोग रहते थे। जातकों के अनुसार भीतरी भाग में ७,७०७ राजवंश रहते थे, और राष्ट्र के सब उच्च राजकर्मचारी उन्हीं लोगों में से चुने जाते थे। कुल निवासियों की संख्या थी १ लाख ६८ हजार। प्रथम खण्ड के भीतर ही विख्यात पुष्करिणी थी जिसके जल से गण का प्रधान कर्मचारी, 'राजा' अभिषिक्त होता था। भद्रसाल जातक में लिखा है कि इसकी रक्षा के लिए बराबर रक्षकों की टोली नियुक्त रहती थी और उसके ऊपर एक बड़ा लोहे का जाल फैला रहता था जिससे मनुष्यों की तो बात ही क्या पशु-पक्षी भी उसके पानी को नहीं छू सकते थे।

लिच्छवियों की स्वतन्त्रता तो अजातशत्रु ने हर ली थी, किन्तु उनका गण बहुत दिनों तक जिवित रहा। अनुमान किया जाता है कि अजातशत्रु के बाद और चन्द्रगुप्त मौर्य के पहले वे स्वतन्त्र थे। मौर्यों के समय में वे फिर उनके अधीन थे। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में वे फिर शक्तिशाली गण के रूप में सामने आते हैं, जब उस राजा ने

उनसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर अपनी शक्ति बढ़ायी थी। अन्य गण-राष्ट्रों के ही समान लिच्छवियों का भी पाँचवीं शताब्दी के बाद कुछ भी पता नहीं चलता। कैसे और क्यों उनका पतन हुआ और किसने उनके विख्यात नगर का विध्वंस कर दिया, इसका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता।

जातकों और अन्य ग्रन्थों में दिये हुए कथाओं से वैशाली के गण के संगठन और कार्यवाही पर काफी प्रकाश पड़ता है। भद्रसाल जातक के 'वर्त्तमान कथा' भाग में दो कथाएँ हैं जिनसे शाक्यों और लिच्छवियों के जीवन और राष्ट्र-संगठन का सजीव-चित्र सामने आ जाता है। एक तो कोसल-नरेश प्रसेनजित और उनके पुत्र विडुडाम और दूसरी कोसल के सेनापति बन्दुल और उसकी स्त्री मल्लिका की है।

उन दिनों श्रावस्ती कोसल की राजधानी थी और वहाँ भगवान बुद्ध के परम भक्त विशाखा और अनाथपिण्डिक रहते थे। इन दो धनियों के घर पर पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओं के लिए खाना बराबर तैयार रहता था और यद्यपि राजा के महल पर भी उनके खाने के लिए बढ़िया से बढ़िया भोजन बनता था; राज-कर्मचारियों में उनके प्रति वैसी मैत्री नहीं पाई जाती थी, इसलिए वे विशाखा अथवा अनाथपिण्डिक के घर जाकर भोजन किया करते थे। एक दिन भगवान बुद्ध से यह सुनकर कि मैत्री के भाव से दिया हुआ भोजन ही सर्वोत्कृष्ट है, और भिक्षुओं को यह मैत्री अपने स्वजनों से या शाक्य-वंशजों से ही मिलती थी, राजा ने सोचा कि यदि मैं शाक्य-कुमारी से विवाह कर लूँ तो मुझे भिक्षु-वर्ग आत्मीय समझने लगेगा। ऐसा विचार कर उन्होंने एक दूत कपिलवस्तु भेजा और कहलाया कि मुझे आप अपनी एक पुत्री दें; मैं आपसे सम्बन्ध करना चाहता हूँ। तब शाक्यों की एक सभा हुई जहाँ इस विषय पर विचार किया गया कि यदि वे एक पुत्री दें तो उनकी कुल-रीति टूटती है और यदि न दें तो राजा, जिनके अधीन वे थे, रुष्ट

हो जाते हैं। कुमार महानाम, जो एक शाक्य-राज-वंशज थे, बोले—घबराने की कोई बात नहीं, मेरी पुत्री वासभखत्तिया दासी की कोख से हुई है, अत्यन्त सुन्दरी, षोडशवर्षीया है। मेरे वीर्य से वह उच्च वंश की है। हम यह कहकर उसे ही भेज दें कि वह उच्च कुल की है।' शाक्य-सभा सहमत हुई और दूतों से कहा गया कि कन्या दी जाती है, उसे राजा ले जायँ। दूतों को सन्देश था कि शाक्य कहीं धोखा न दें, क्योंकि वे अपने वंश का बड़ा गर्व रखते थे। इससे उन सब ने कहा कि हम उसी लड़की को ले जायेंगे जो आप लोगों के साथ खाना खाएगी। इस पर शाक्यों में फिर खलबली पड़ी किन्तु महानाम ने इसकी भी युक्ति निकाली। जब वासभखत्तिया सजधज कर लाई गई और महानाम ने एक कौर मुँह में रखकर, उसे बैठकर खाने को कहा और वह खाने लगी तब एक दूत आकर बोला कि फलाने राजा ने यह पत्र भेजा है; कृपा कर उसके दन से शीघ्र मिलें। महानाम दूसरा कौर न उठाकर दाहिना हाथ बर्तन में ही रखा और बाएँ हाथ में पत्र लेकर पढ़ने लगा। इतने में वासभखत्तिया खा चुकी और महानाम ने उठकर हाथ-मुँह धो डाला। दूतों को विश्वास हो गया और वे सब वासभखत्तिया को लेकर चले गये। कुछ दिनों के बाद वासभखत्तिया को एक पुत्र विडुडाम हुआ। जब वह कुछ बड़ा हुआ तब नानिहाल जाने को जिद्द करने लगा। उसकी माँ ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु रोक न सकी और वह अपने पिता से अनुमति लेकर चला ही गया। उसके जाने के पहले ही वासभखत्तिया शाक्यों के पास पत्र भेजकर यह प्रार्थना कर चुकी थी कि उसके जन्म की गुप्त कथा विडुडाम से न कही जाय। विडुडाम के पहुँचने के पहले शाक्यों ने अपने सब लड़कों को देहातों में भेज दिया। जब विडुडाम पहुँचा तब सब शाक्य राजशाला में एकत्रित हुए और विडुडाम को लगे बताने कि अमुक तुम्हारा मामा है, अमुक नाना है इत्यादि और विडुडाम को झुकते-झुकते पीठ में दर्द हो गया। विडुडाम के पूछने पर कि कोई भी उसका आदर क्यों नहीं करता तो वे बोले—'बेटा, सब छोटे कुमार देहातों में हैं।'

विडुडाम की खातिरदारी में कोर-कसर तो नहीं की गई, किन्तु जब वह विदा हो गया तब कुछ कोसल के सिपाहियों के सामने, एक दासी बड़बड़ाती आई—‘यहीं पर दासी पुत्री वासभखत्तिया का पुत्र बैठा था’, और लगी उस स्थान को दूध के पानी से धोने। इस बात के फैलने में देर न लगी और वह विडुडाम को भी मालूम हो गई। उसने प्रण किया कि जब मैं राजा होऊँगा तब उस आसन को शाक्यों के हृदय के रक्त से धोऊँगा। यह ऐतिहासिक बात है कि विडुडाम ने ही शाक्यों का अन्त कर दिया।

बन्धुल की कथा है कि वह प्रसेनजित् का सेनापति था। उसकी स्त्री मल्लिका कुशीनगर के मल्लों के वंश की थी। उसके बन्ध्या होने के कारण, बन्धुल ने उससे कहा कि तुम अपने पिता के घर चली जाओ। ऐसा करने के पहले वह जेतवन गई, जहाँ उस समय भगवान बुद्ध वास कर रहे थे। भगवान ने पूछा—‘कहाँ जाती हो?’ उसके सब बात बताने पर, भगवान ने कहा—‘यदि यही कारण है, तो वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।’ तब बन्धुल ने उसे रख लिया, और यह कुछ ही दिनों में गर्भवती हो गई। एक दिन बन्धुल के पूछने पर, उसने कहा कि उसकी इच्छा थी वैशाली की अभिषेक पुष्करिणी में स्नान करने और उसके जल को पीने की। बन्धुल उसे रथ पर बिठा, शस्त्रों से सज्जित हो, निर्भयता के साथ वैशाली में घुस गया और प्रहरियों को मारकर मल्लिका को स्नानादि कराया और शीघ्र वापस हुआ। नगर का विशाल घण्टा बजने लगा और ५०० लिच्छवी युवकों ने बन्धुल का पीछा किया और घनघोर युद्ध हुआ।

इन कथाओं से स्पष्ट है कि राष्ट्र-सम्बन्धी सभी बातें सभा में पेश की जाती थीं और सभा के निश्चय के अनुसार ही सब काम किये जाते थे। राजाओं की उच्छृङ्खलता का भी पता चलता है। यद्यपि वर्णाश्रम धर्म का आधुनिक रूप नहीं मिलता, तथापि दासी पुत्री के अछूत होने का प्रमाण मिलता है। साथ ही साथ, प्रसेनजित् का, बुद्धदेव की शिक्षा से,

वासभखतिया और विडुडाम को ग्रहण करना बताता है कि उस समय वर्णाश्रम अभी सुदृढ़ नहीं हुआ था ।

विनय वस्तु (कश्मीर प्रति) के चीवर वस्तु भाग में 'खण्ड' की कथा है । उससे तत्कालीन राजाओं की मन-प्रानिता और गणों की सुव्यवस्था स्पष्ट हो जाती हैं । खण्ड मिथिला का महामन्त्री था, जिसकी बुद्धिमानी से मिथिला की बराबर उन्नति हो रही थी । किन्तु राजा चुगुलखोरों की बातों में पड़कर उस पर सन्देह करने लगा । खण्ड को यह बात मालूम हुई और वह भाग जाने का निश्चय करने लगा । किन्तु उसने श्रावस्ति, काशी, राजगृह, चम्पा आदि राजधानियों को भी त्याज्य समझा, क्योंकि 'राजाधीना श्रावस्ती । तत्राण्येपणवादीनवः ।' (श्रावस्ती तो राजा के अधीन है—वहाँ भी ये ही विपत्तियाँ हैं) । वैशाली के विषय में उसने सोचा—'वैशाली गणधीना । यद्दशानामायप्रेतम् तद्दिशनीनाम् नाभिप्रेतम् ।' (वैशाली गण के अधीन है । जो दश को पसन्द होता है, वह बीस पसन्द नहीं होता) ।

खण्ड की कथा से ही मालूम होता है कि वंशालियों की लड़ाकियाँ बाहर नहीं व्याही जाती थीं । प्रथम स्कन्ध की युवतियाँ, प्रथम स्कन्ध में, द्वितीय की प्रथम और द्वितीय में, और तृतीय की सभी स्कन्धों में व्याही जाती थीं । दूसरे देशों से आये व्यक्ति को, यदि वह योग्य होता, तो गण अपनी 'सभा' और 'निगम' में स्थान देता था । 'निगम' या तो व्यापारियों का संघ था, अथवा नागरिकों की सभा (City Council) थी । गणों में उच्छृङ्खलता नहीं थी और प्रजा अपना जीवन सुख और शान्ति से व्यतीत करती थी । वैशाली में कोई भी राष्ट्रीय पद कुल-क्रम के अनुसार प्राप्त नहीं होता था । योग्य व्यक्तियों का चुनाव होता था । धरती गण की थी और वही अपनी प्रजा में उसे बाँटता था ।

गणों की सभा किस रीति से संगठित होती थी, कहना कठिन है । किन्तु बौद्ध ग्रन्थों और महाभारत में किये हुए वर्णनों से प्रतीत होता है कि राजकुलों के सभी जवान और वृद्ध सभा के सदस्य होते थे और

काई चुनाव नहीं होता था। सभा बुलाने के लिए और किसी विपत्ति के आने पर भी, घण्टा बजाया जाता था। घण्टा बजने पर सदस्य और गण के वीर सजधजकर घर से निकल पड़ते थे। इसी तरह जब बिम्बिसार अम्बपाली गणिका के घर में गुप्त रीति से घुसा, तब घण्टा बजाया गया और घर-तलाशी शुरू हो गई।

सभा के कार्यक्रम के नियमों का भी पता नहीं चलता किन्तु विद्वानों का अनुमान है कि बौद्ध-संघों के नियम गण-संघों के नियमों के अनुसार ही बनाये गये थे।

अष्ट-कथा के अनुसार वैशालिकों के तीन, और जातकों के अनुसार चार प्रधान कर्मचारी चुने जाते थे—राजा, उप-राजा, सेनापति और भाण्डागारिक। चुने जाने के बाद पुष्करिणी के जल से इनका अभिषेक होता था। सभा की सम्मति से ही राष्ट्रनीति चलती थी। सम्भवतः दूसरे बड़े-बड़े पदाधिकारियों को भी सभा ही चुना करती थी, क्योंकि एक बौद्ध-ग्रन्थ में लिखा है कि एक महत्तक (राजदूत) के चुनाव के लिए सभा बैठी थी। सभा में, राजनीतिक और युद्ध-सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त कृषि, वाणिज्य, इत्यादि पर भी विचार होता था।

अब गणों के न्याय-विधान पर कुछ बातें लिखना आवश्यक है। धर्मशास्त्रों में कुल-राष्ट्रों और गण-राष्ट्रों के 'धर्मों' (Laws) का वर्णन पाया जाता है। कुल-न्यायालयों के प्रधान 'कुलिक' (Aristocrats) होते थे। वृजियों में आठ व्यक्तियों वाला विनिश्चय महामात्राओं के न्यायालय का उल्लेख पाया जाता है। महाभारत में भी कुलाधिपतियों पर आततायियों के निग्रह का भार दिया गया है। सबसे अधिक प्रमाण लिच्छवी वृजियों की धर्म-संस्थाओं के विषय में मिलते हैं। राष्ट्रपति 'राजा' सबसे उच्च न्यायाधीश होता था। उससे नीचे, क्रमशः उप-राजा, और सेनापति गिने जाते थे। इनके नीचे क्रमशः अष्टकुलकों का, सूत्रधारों का, व्यवहारिकों का और विनिश्चय महामात्राओं का न्यायालय था। सबसे पहले अभियोग का विचार विनिश्चय महामात्रा करते थे; यदि

उनकी दृष्टि में आसामी निर्दोष था, तो उसे छोड़ दिया जाता था; यदि वह दोषी समझा जाता था, तो अभियोग व्यवहारिकों के पास जाता था, वे भी उसे छोड़ सकते थे, किन्तु दोषी ठहराने पर सूत्रधारों की अनुमति की आवश्यकता थी। इसी तरह, जब अष्ट-कुलक भी उसे दोषी ठहराते तब सेनापति, उप-राजा और राजा के पास अन्तिम निर्णय होता था। प्रत्येक को अलग-अलग विचार करना पड़ता था और जब सब की राय एक होती थी, तभी वह दण्ड्य होता था।

लिच्छवियों की सब संस्थाएँ प्रधान नगर में ही थीं। हम कौटिलीय अर्थशास्त्र में पाते हैं कि मौर्य साम्राज्य के समान विस्तृत राज्यों में दूसरे प्रकार की धर्म-संस्थाएँ थीं और वे देहातों और नगरों में नैटी थीं। गणों के राष्ट्र छोटे होते थे, इससे उनकी संस्थाएँ प्रधान नगर से ही अपना कार्य भली-भाँति कर सकती थीं और देहाती अदालतों की आवश्यकता नहीं होती थी।

ऊपर गण-राष्ट्रों का जो परिचय दिया गया है उससे हमारे विगत युग की शासन-व्यवस्था की एक भाँकी मिल जाती है। हमारा वह युग गौरवपूर्ण था इसमें कोई सन्देह नहीं; और साथ ही आज के शासन-व्यवस्था सम्बन्धी हमारे प्रयोगों के लिए वह एक आदर्श भी प्रदान करता है।

[जुलाई, १९४६]

प्राचीन और नवीन

जब वैदिक ऋषियों ने गाया—

“को अद्वा वेद क इह प्रवोचत कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जने नाऽथा को वेद यत आबभूव ॥”

तब उन्होंने मानव-हृदय की नैसर्गिक माँग को अमृतमय शब्दों में रख दिया । मनुष्य अपने को इस सतत परिवर्तनशील, अनन्त रूपवाले संसार में पाता है, उसके लुभाने वाले भोगों को यावज्जीवन भोगता है ; किन्तु अतृप्तावस्था में ही वह यहाँ से उठ जाता है । इसी से वह विचार करता है और प्रश्न करने लगता है कि यह सृष्टि कहाँ से आयी, कहाँ जायगी, इसके रहस्य को कौन बता सकता है ? यही कौतूहल अनेक दर्शन-शास्त्रों और विज्ञानों का जन्मदाता है । इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए जब वह अपनी इन्द्रियों को आधार मानकर प्राप्त प्रमाणों पर विचार करता है, तब विज्ञानों की सृष्टि करता है ; और जब वह अपने आन्तरिक अनुभवों को आधार मानता है, तब दर्शनों की सृष्टि करता है । जब से मानवों की सृष्टि हुई, तब से ही ये प्रश्न उठते आ रहे हैं और इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा आगे भी होता रहेगा, क्योंकि प्राप्त फल, साधनों के नियमित होने से, स्वयं नियमित ही रहता है और सर्वमान्य रूप में इन प्रश्नों का उत्तर मिलने की आशा पूरी होती-सी नहीं प्रतीत होती ।

वैदिक विचारों का क्रमिक विकास वैदिक साहित्य में ही पाया जाता है । उन अतिदूर दिनों में इन विचारों का जैसा विकास हुआ, वह कम

समय के लिए न केवल अपूर्व ही था, किन्तु प्रचलित विचार-धाराओं से इतना अनोखा, इतना उच्च था कि साधारण मनुष्यों की बुद्धि वहाँ तक पहुँच नहीं सकती थी। इस दृष्टिकोण से देखने पर वेदाध्ययन पर शास्त्रकारों द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों की आवश्यकता समझ में आने लगती है। इसे स्पष्ट करने के लिए हमें वैदिक देवताओं के वर्णनों और उपर्युक्त दार्शनिक विचारों के साथ-साथ बैबिलन, मिस्र तथा क्रीट की प्राचीन विचार-धाराओं की ओर ध्यान देना होगा। आधुनिक वैदिक विद्वानों ने सिद्ध किया है कि एक समय था—वेदों के वर्तमान रूप धारण करने और वेदव्यास के बहुत पहले—जब आर्य भी दूसरी जातियों की तरह, प्राकृतिक शक्तियों को रूपान्वित कर, उनकी पूजा करते थे; जैसे इन्द्र, वरुण, मरुत, यावापृथ्वी, अग्नि आदि। उस समय मिस्र में ओसि-रिस (Osiris), रा (Ra), होरस (Horus) आदि की बैबिलन में अन्नु (Anu), बेल (Bel), इया (Ea) आदि की इज्राएल (Israel) में जेहोवा (Jehovah—ठीक-ठीक भूढ़, यहह वा यहहेह) और क्रीट में मिन्न से मिलते-जुलते देवताओं की पूजा होती थी। किन्तु इन जातियों में से किसी भी जाति की विचार-धारा पार्थिव शरीर से ऊपर नहीं उठ सकी। यद्यपि मिस्र के पुजारियों ने मानव-शरीर में एक 'का' (Soul—जीवात्मा) का रहना पा लिया था, वे इसको स्वतन्त्र पद दे नहीं सके। उनके विचारों की परिधि शरीर तक ही सीमित रह गयी। ई० पू० १४वीं-१५वीं शताब्दी में अखनेतन मिस्र का राजा था। उसने एक देवाधिदेव की पूजा प्रचलित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु पुजारियों के विरोध के कारण वह असफल ही रह गया। मिस्रवालों को अन्त तक अनेक देवों में विश्वास रहा, और अन्त तक वे शरीर के बिना 'का' का रहना असम्भव ही समझते रहे। यही कारण था कि शवों को 'मम्मी' बना कर सुरक्षित रखने की प्रथा उस जाति में व्यापक हो गयी थी। यहूदी धर्म में यद्यपि एक ही जेहोवा की प्रधानता थी, तथापि जीसस के समय तक वह केवल मनुष्य का विस्तारित और शक्तिवन्तर रूप था। वह भी

अनुष्ठुप् की तरह काम, क्रोध, लोभ का शिकार बनता था। बैबिलन और असुर के देवता तो अपने प्रारम्भिक रूप से ऊपर उठ ही न सके। इसलिए जब पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेद में ही निम्नलिखित प्रकार की अनेक सूक्तियों को बिखरा पाया, तब वे इन्हें पीछे की बनी कहने पर बाध्य हो गये—

एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति—ऋ: १।१६४।४६।

यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति—ऋ: १।१६४।३६।

एको विश्वस्य भुवनस्य राजा—ऋ: ६।३६।४।

सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

सभूमि विश्वतो वृत्वात्यष्टित् दशागुलम् ॥ ऋ: १०।१६०।१

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं।

न सीद्र जो नो व्योमा परोयत् ॥ ऋ: १०।१२६।१

यदि हम जगत् के सभी उच्च विचारों का अध्ययन करें, तो हमें ज्ञात होगा कि ऋग्वेद में न केवल भारतीय परन्तु, जगत के सभी प्रगतिशील विचारों का बीजरूप पाया जाता है। समय निर्णय करना इस लेख का अभीष्ट नहीं है, समय के विषय में तो ऊपर उद्धृत सूक्ति ही पर्याप्त हैं—‘को अद्वावेद’ इत्यादि। अस्तु, उस बीज के प्रस्फुटित होने, पूर्णता प्राप्त करने और आज की विचार-धाराओं के रूप में विकसित होने की कथा समय-निर्णय की अपेक्षा अधिक मनोरंजन का विषय है। और यद्यपि यह प्रसर भारतीय साहित्य में ही स्पष्ट रूप में देखा जाता है, दूसरे देशों की विचार-धाराओं में इसके फैलने के चिह्न मिलते ही हैं।

प्रत्येक उपनिषद् उपर्युक्त प्रश्नों का अपने ढंग पर उत्तर देने का प्रयत्न करती है, जैसे—

कोयमात्मेति वयं उपास्महे कतरः स आत्मा। ये न वा रूपं पश्यति, ये न वा शब्दं शृणोति……” (ऐतरेय) [जिसकी हम उपासना करते हैं, वह आत्मा क्या है ? (इन दृश्य जगत के पदार्थों में) वह कौन है जिससे रूप देखा जाता है, जिससे शब्द सुना जाता है…… ?]

किं कारणं ब्रह्म कुतःस्मज्जाता.....(श्वेताश्वतर) । [क्या ब्रह्म कारण है ? हम कहाँ से जन्म लेते हैं ?]

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः—(केन) । [किसकी प्रेरणा से मन इष्ट की ओर दौड़ता है ?] इत्यादि । सहस्रों उटजों में इन प्रश्नों को हल करने का प्रयत्न होता है, मानो जिस ऋषि ने नीचे उद्धृत ऋचा को लिख दिया, उन्होंने अपने संशय को व्यक्त कर अपनी सन्तति को प्रयत्न करने के लिए ललकारा हो—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्गवेद यदि वा न वेद ॥

और, वह सन्तति जैसे इस आह्वान को सुनकर शंका दूर करने पर तुल गयी हो । यद्यपि सबकी राह निरपेक्ष और स्वतन्त्र थी, फिर भी सब एक ही सिद्धान्त पर पहुँचे—तत्त्वमसि; श्रोतस्य श्रोत्रं, मनसो मनो यत्; अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्यजन्तोर्निहितं गुहायां; इत्यादि । हाँ, कुछ ऐसे महानुभाव हुए जिन्होंने इन विचारधाराओं से असन्तुष्ट होकर नवीन विचारों का सृजन किया, जैसे जैन तीर्थङ्करों और गौतम बुद्ध ने । उनके सिद्धान्तों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इनके भी बीज वेदों में ही पाये जाते हैं । यही कारण है कि महावीर जिन और बुद्धदेव ने अपने-अपने धर्मों को आर्यधर्म ही बताया है । किन्तु, इन सभी भारतीय विचारधाराओं में एक यह विशिष्टता है कि किसी ने इस संसार को स्वरूप से सत्य नहीं माना है और न इन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति का साधन ही बताया है । इसके प्रतिकूल उनका सिद्धान्त है —

“विज्ञातारमरे केन विजानीयात्”; “संवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता”, न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं;” “नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा”, “न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो” । तात्पर्य यह है कि भारतीयों ने स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का विषय नहीं हो सकता । किन्तु, वे यह कभी नहीं कहते कि

हम उस परमात्मा को जान ही नहीं सकते। वे तो बार-बार और स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि उसके ज्ञान से ही इस संसाररूपी माया का अन्त हो सकता है और उसकी प्राप्ति ध्यान, योग और तत्त्वभाव से होती है—“तस्याभिध्यानात् यो जनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः।” उसे कहीं बाहर ढूँढ़ना नहीं है, क्योंकि वह सभी काल और अवस्था में जीवों के बाहर और भीतर व्याप्त है और उसके दर्शन तो हृदय में ही हो जाते हैं—“बहिरन्तश्चभूतानां अचरं चरमेव च”, “हृदा हृदिस्थं मनसा एनमेवं विदुरभृता स्ते भवन्ति।” जब ऐसा दर्शन हो जाता है तब इस इन्द्रियगोचर संसार की प्रतीति नष्ट हो जाती है, अथवा उसका सत्य-स्वरूप मालूम हो जाता है।

इधर जैन, बौद्ध और नास्तिक विचारधाराएँ परमात्मा का बहिष्कार करते हुए भी, संसार को दुःखमय जानकर और कर्मों को प्रधानता देकर, इस प्रपंच से मुक्त होने का मार्ग ढूँढ़ने में लगीं। इस खोज में उन्होंने आर्य-विचारधाराओं के मूल सिद्धान्तों को अपनाया ही। वे भी संसार की निःसारता मानते हैं, और दुःखों की विरति के अनन्तर एक आनन्द की अवस्था की प्राप्ति सूचित करते हैं। किन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि चारवाकों को छोड़कर, भारत के सभी नास्तिक और आस्तिक मत इन्द्रियों द्वारा प्रमाणित संसार के तथ्यात्व को स्वीकार नहीं करते और न भ्रमप्राप्ति के लिए इन्द्रियों को समर्थ साधन ही मानते हैं।

पाश्चात्य विज्ञान १९वीं शताब्दी तक इन्द्रियों पर पूर्ण भरोसा करता था; किन्तु बीसवीं शताब्दी का वस्तुविज्ञान इन्द्रियों से विश्वास हटाने लग गया है। इस लेख में यह जानने का प्रयत्न किया जायगा कि वर्तमान जीवविज्ञान और मनोविज्ञान किस ओर जा रहे हैं।

जीवविज्ञान अब इस ओर झुक रहा है कि केवल जड़वाद से जीवन (Life) का आविर्भाव और विकास स्पष्ट नहीं किया जा सकता। निर्जीव और सजीव—जड़ और चेतन के आचरण में जो भेद पाया जाता है, उसका भी समाधान जड़वाद नहीं कर पाता। प्रो० जे० एस० हैल्डेन

का कहना है कि, “यद्यपि साधारण भ्रूणी के लेखकों में वस्तु-रासायनिक (Physicochemical), अथवा यान्त्रिकवाद (Mechanistic) अभी तक प्रचलित है, तथापि मैं समझता हूँ कि जीव-विज्ञान के सच्चे विद्यार्थियों में अब ऐसी बात नहीं पायी जाती ।” उनकी धारणा है कि भौतिक विज्ञानों के दृष्टिकोण से सजीव-रचनाओं (Living organisms) की स्थिति (Maintenance) और उत्पादन (Reproduction) एक अलौकिक क्रिया (Miracle) प्रतीत होता है, क्योंकि परस्पर सम्बन्धित (Coordinated) रूप (Structure) और क्रिया (Activity) का पोषण (Maintenance) स्वयंसिद्ध द्रव्य (Matter) और तेज (Energy) के सिद्धान्त के प्रतिकूल है ।

जीवविज्ञान, जीवों के भीतरी ढाँचे और शक्तियों के परस्पर सम्बन्धित परिवर्तनों का निरीक्षण करके इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि अपने वातावरण के अनुकूल रूप और ढाँचा प्राप्त करने, और जब वे प्राप्त हो जाते हैं तो उन्हें कायम रखने की आन्तरिक प्रेरणा जीवों में हुआ करती है । साथ-ही-साथ अपने अनुकूल वातावरण को प्राप्त करने और उसे कायम रखने की भी प्रवृत्ति होती है । पहली प्रेरणा के उदाहरण में केकड़ा (Crab) बताया जाता है । जब कभी, किसी कारणवश, उसकी एक टाँग नष्ट हो जाती है, तब वह दूसरी टाँग जनमा लेता है । अभी तक मनुष्य तो कोई ऐसा यन्त्र नहीं बना सका है जिससे वह अपने किसी नष्ट अंग के स्थान पर एक नया अंग लगा सके । जर्मन वैज्ञानिक द्वीश (Driesch) ने प्रयोगों के द्वारा दिखा दिया है कि भ्रूण (Embryo) भी पुर्यात् रीति से अपनी कमी पूर्ण कर लेता है । यदि किसी ऐसे भ्रूण को—जो इस अवस्था में पहुँचा है कि वह केवल एक वृत्ताकार वस्तु है, और विभिन्न अवयव स्पष्ट नहीं हो सके हैं—लिया जाय और उसके दो अथवा अधिक भाग कर दिये जायें, तो देखा जायगा कि समय पर सभी खण्ड मिलकर एक पूर्ण भ्रूण हो जायगा । इस प्रयोग से यह सिद्ध हुआ कि भ्रूण का कोई भी भाग कोई भी अंग बन सकता है ; और भ्रूण का प्रत्येक भाग

जननता है कि दूसरे भागों की क्या गति हो रही है। उदाहरणार्थ हम कह सकते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर कोई भी अंग वकृत-रक्तणु (Blood-cell) अथवा अस्थि-खण्ड बन सकता है। किन्तु, कोई भी यन्त्र इस तरह विभाजित होकर वह यन्त्र नहीं रह सकता। उपर्युक्त दूसरे सिद्धान्त की पुष्टि में सालमन (Salmon) मछली का उदाहरण दिया जाता है। देखा गया है कि जब सालमन के अण्डा देने का समय आता है, तब वह उपयुक्त परिस्थिति की खोज में तीव्र धाराओं के प्रतिकूल, पत्थरों और चट्टानों को लाँचती हुई दूर चली जाती है और जब तक उस मनोनुकूल स्थान पर नहीं पहुँचती, वह कठिनाइयों को पार करने का प्रयत्न नहीं छोड़ती। इन उदाहरणों को देखकर हम कह सकते हैं कि जीवों में एक सचेतन उद्देश्य अथवा अभिलाषा होती है जो जड़ में असम्भव है और यह बात केवल मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटादि में ही नहीं पायी जाती, यह उन्मिजों में भी पायी जाती है। ऐसे अनेक लता और पुष्प हैं जो प्रतिकूल परिस्थिति में पड़कर अपने रूप में आवश्यक परिवर्तन कर डालते हैं। उपर्युक्त सभी बातें जड़वाद का खण्डन करती हैं।

ऊपर की सभी बातों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि—
(१) जीवों का आचरण यन्त्रों से विशिष्ट है; क्योंकि जहाँ यन्त्र परिस्थितियों के पूर्ण बश में होता है, वहाँ जीव परिस्थितियों पर स्वतन्त्र रूप से शासन करने का प्रयत्न करता है। जीव, बाह्य परिस्थिति को जानता है, और उसके प्रति मनोनुकूल, और किसी उद्देश्य को साधने रखकर, क्रिया करता है। प्रो० हैलडेन के अनुसार जीवन की परिभाषा में जीव और परिस्थिति दोनों ही की गणना होनी चाहिए, क्योंकि जीवन और परिस्थिति में ऐसा घना सम्बन्ध है, और दोनों में सहयोग इतना पूर्ण है, कि एक के बिना दूसरे का चिन्तन ही नहीं किया जा सकता। (२) जीव को केवल अंगों और भागों का जोड़ नहीं समझा जा सकता। यन्त्र तो केवल अपने अंगों का जोड़ होता है और उसका प्रत्येक भाग अलग-अलग कार्य किया जा सकता है और फिर के एकत्र भी कर दिये जा सकते हैं।

जीव के अंगों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जा सकता। वह एवऽकाई है, पूर्ण है, जो केवल अंगों के जोड़ से अधिक है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके अंगों या भागों की अग्नी-अग्नी स्वतन्त्र क्रियाएँ हैं, जैसे उसके रक्त के स्वेताणु (White corpuscles) बाहर से आये हुए रोग कीटाणुओं (Bacteria) को स्वतन्त्र रूप से घेर कर खा जाते हैं। देखा गया है कि जीव की मृत्यु के पश्चात् भी कुछ देर तक उसके बाल बढ़ते हैं; किन्तु यह भी देखा जाता है कि उसके सभी अंग एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं और विभिन्न क्रियाएँ स्वतन्त्र होने पर भी उसकी एकता बनाये रखने के लिए ही हुआ करती हैं। प्रो० हेलडेन की धारणा है कि 'जहाँ तक हम जीवन-सम्बन्धी दृश्यों (Phenomena) को समझ सके हैं, उन्हें एक नित्य-स्थायी पूर्णता (Wholeness) की अभिव्यक्ति ही मानना पड़ेगा; और इसी पूर्णता को हम उस जीव का जीवन कहते हैं।'

डारविन (Darwin) और लामार्क (Lamarck) के अनुसार वही जीव कायम रह सकता है जो अपने वातावरण के अनुकूल अपने में परिवर्तन करने की शक्ति रखता है। अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य जाति क्यों और कैसे उत्पन्न हुई, और नवीन रूपों की सृष्टि, वन्दरों और हाथियों तक पहुँच कर ही क्यों नहीं रुक गयी? हम देखते हैं कि मनुष्य का शरीर अत्यन्त हेय है—न वह अत्यन्त शीत, न अत्यन्त गर्मी सह सकता है। मनुष्य अभी तक इसमें उचित परिवर्तन भी नहीं कर सका है। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार तो मनुष्य-जाति को कब का मर मिटना चाहता था। यह भी कहा जा सकता है कि इस जाति की सृष्टि की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। इन सब विचारों से हम यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि जीवन-प्रवाह का ध्येय वर्तमान श्रेणी के जीवों से उच्चतर और अन्त में उच्चतम श्रेणी का जीव-उत्पादन करना ही हो सकता है।

जब हम उपर्युक्त अनुमान पर पहुँचते हैं, तब हमें इस सृष्टि के विषय में यही कहना पड़ता है कि या तो यह जीवन-प्रवाह, जड़ पदार्थ के

साथ-साथ इस विश्व का मूल कारण है ; अथवा, यह कि इस विश्व में जो कुछ भी सत्यता है, वह केवल इसी जीवन-प्रवाह की है और जड़ पदार्थ केवल भ्रममात्र । बर्गसन (Bergson) के अनुसार इस भ्रम का कारण 'प्रज्ञा' (Intellect) है । किन्तु जोड (Joad) का मत है कि अभी तक यह बात प्रमाणित नहीं हो सकी है कि केवल जीवन-शक्ति से ही यह विश्व बना है । इनका कहना है कि संसार में कहीं भी जीवन-शक्ति को द्रव्य (matter) से अलग, स्वतन्त्र रूप में नहीं पाते ; और यद्यपि यह सम्भव है कि द्रव्य भी जीवन-शक्ति से असम्बन्धित अवस्था में न रह सकता हो, तथापि इसका अभी तक प्रमाण नहीं मिल सका है । (यहाँ पाठकों को ब्रह्म और माया, पुरुष तथा प्रकृति के सिद्धान्त स्मरण आयेंगे ।)

परन्तु यह बात तो स्पष्ट है और माननी ही पड़ेगी कि जीवन-प्रवाह और द्रव्य एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं । यह भी स्पष्ट है कि सभी द्रव्यों में जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती । इन दो बातों से हम अनुमान कर सकते हैं कि जीवन उसी द्रव्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है जो उसकी अभिव्यक्तियोग्य-अवस्था को प्राप्त कर चुका है । अल्प, चैतन्य जीवन-शक्ति कैसे रूपवान द्रव्य को प्रभावित कर सकती है, पहले यह एक असाध्य प्रश्न था ; किन्तु जब वस्तुविज्ञान ने द्रव्य के रूप को ही उड़ा दिया है, तब यह प्रश्न नहीं उठना चाहिये और उठे भी तो उसका समाधान हो जाना चाहिये । कुछ लोग 'माइण्ड' (Mind, अन्तःकरण) की तुलना किसी दीपक की लौ से करते हैं, जो तेल या मोम के जल जाने पर स्वयं बुझ जाती है । किन्तु यह उपमा ठीक नहीं बैठती । यदि हम शरीर को एक रेडियो (Radio-set) मान लें, और जीवन-प्रवाह या 'माइण्ड' (Mind-अहंकार, बुद्धि, चित्त और मनवाला अन्तःकरण) को विद्युत्-तरङ्ग मान लें, तो दोनों का परस्पर सम्बन्ध अधिक स्पष्ट होगा । यदि बैटरी या रेडियो खराब हो जाय, तो यह नहीं कहा जा सकता कि विद्युत्-तरङ्ग है ही नहीं । इसी रीति से जीवन-प्रवाह शरीरों को अपने निश्चित कार्य के साधन के लिए व्यवहार में

लाता है, और जब वे उसके कार्य के उपयुक्त नहीं रह जाते, तब उन्हें छोड़ देता है।

इसी सिलसिले में कतिपय जीव-वैज्ञानिकों के विशेष विचारों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। एक दल ने आकस्मिक-उद्भूतिवाद (Theory of Emergence) को सिद्ध किया है। यदि हम दो भाग हाइड्रोजन लें और उसे एक भाग आक्सिजन से मिला दें तो इस सम्मिश्रण से एक नवीन तरल पदार्थ—जल—पैदा हो जायगा, जिसकी आर्द्रता, तरलता आदि गुण न हाइड्रोजन में पाया जाता है और न आक्सिजन में ही। इसी रीति से यद्यपि यह शरीर अनेक अङ्गों का बना है—जैसे, मांस, मस्तिष्क, रक्त, स्नायु, शिरा आदि तथापि इन सबको एकत्र कर देने से ही जीवित मनुष्य-शरीर नहीं बन जाता। जब वे एक विशिष्ट अनुक्रम में एकत्र होते हैं, तभी एक जीवित शरीर की आकस्मिक उद्भूति होती है, और यह जीवित शरीर केवल अपने अंगों का जोड़ नहीं रहता; क्योंकि उसमें अनेक नवीन गुण पैदा हो जाते हैं, जो उन अंगों में नहीं थे। जब हम जीवन (life) का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं, तब स्पष्ट हो जाता है कि जीवन या जीवन-प्रवाह नित्य ऐसे नये रूपों और गुणों का आविष्कार करता रहता है, जो पहले उसके मूल आधारों में नहीं थे। इस नियम के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक यन्त्रज्ञ (Engineer) पुल बनाना जानता है; कोई गणितज्ञ 'डिफरेंशियल-कैलकुलस' जानता है। ये तो नवीन आविष्कार हैं; यदि कोई कहे कि ये मनुष्य की उत्पत्ति के पहले से ही पृथ्वी के परमाणुओं में भरे थे, तो वह हास्यास्पद होगा। इसी तरह हम देखते हैं कि जिस द्रव्य (Matter) का जीवित शरीर बना है, वह पहले तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रोटोप्लाज्म (Protoplasma) के रूप में रहता है और अन्त में करोड़ों जीवित सेलों (Cells) का उपनिवेश हो जाता है। इन सेलों के भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं और वे विचित्र और आश्चर्यजनक यन्त्रों का निर्माण करते हैं, जैसे आँख, कान आदि। अब प्रश्न यह है कि क्या

ये करोड़ों सेल उस प्रोटोप्लाज्म में थे ? यदि नहीं थे, तो जीवन-प्रवाह ने इनका आविष्कार किया ।

उपर्युक्त विचारों को आधार मान कर हम कह सकते हैं कि जीवन-प्रवाह के सभी कर्म सोद्देश्य होते हैं और वह उद्देश्य है उत्तमोत्तम रूपों का सृजन । इस उद्देश्यसिद्धि में जड़-द्रव्य बाधक होता है और इसलिए जीवन-प्रवाह को प्रत्येक पग पर जड़-द्रव्य से लड़ना और उस पर विजय प्राप्त कर उसे अपनी कार्यसिद्धि के अनुकूल बनाना पड़ता है । भूगर्भशास्त्र (Geology) ने दिखा दिया है कि हमारी पृथ्वी बहिष्कृत रूपों के अवशेषों से लदी है । इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन-प्रवाह रूपों की परीक्षा करता है और उनसे प्राप्त अनुभवों के आधार पर उच्चतर रूप की सृष्टि करता है । इस सिद्धान्त से सम्बन्धित अनेक रोचक प्रश्न उठते हैं—जैसे स्मृति क्या है ; सहज ज्ञान क्या है ; माता-पिता अपने किन-किन गुणों को अपनी सन्तति में स्थापित करते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर एक पृथक् विषय बन जाता है ; अतः यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उपर्युक्त वैज्ञानिकों के प्रयत्नों से यह सिद्धान्त स्थापित हुआ कि माता-पिता अपने प्राप्त गुणों को सन्तति में आरोपित तो अवश्य करते हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे सभी गुण उनमें प्रस्फुटित हों ; तथापि यह सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति, परम्परागत गुणों का आदान-प्रदान करके जीवन-समष्टि को धीरे-धीरे कुछ-न-कुछ ऊपर उठाता ही चला जाता है । जैसे आधुनिक वस्तु-विज्ञान इस सिद्धान्त पर पहुँचा है कि संसार के सभी तेज का मूल एक ही है, और सभी तेज उसी से निकलते और उसी में लीन हो जाते हैं, उसी तरह जीव-विज्ञान भी इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि सभी वैयक्तिक जीवन एक ही जीवन-प्रवाह से निकलते हैं और रूप के मिटने पर उसी में लीन हो जाते हैं ।

यहाँ पर पाश्चात्य मनोविज्ञान की ओर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है । हम देख चुके हैं कि वैज्ञानिक प्रगति जड़वाद (Materialism) के प्रतिकूल और आध्यात्मवाद के अनुकूल हो रही है ; परन्तु यह

आश्चर्य की बात है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान अभी तक जड़वाद ही की पुष्टि के प्रयत्न में लगा है। इसलिए उसके कतिपय प्रसिद्ध सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन मनोरंजक होगा।

बीसवीं शताब्दी के मनोविज्ञान में बिहेवियरिज्म (Behaviourism-आचरणवाद) और साइको-ऐनेलिसिस (Psycho-analysis-मनोविश्लेषण) की विशेषता है। मनोविश्लेषण-वाद और इसकी शाखाओं के जन्मदाता फ्रायड (Freud) आदि डॉक्टर थे। यह 'वाद' मनुष्य में तीन अवस्थाओं को मानता है—चैतन्य (Conscious) पूर्व-चैतन्य (Preconscious) और अ-चैतन्य (Un-conscious)। इन तीनों में सबसे अधिक महत्त्व 'अ-चैतन्य' का है, क्योंकि यही सब विचारों, इच्छाओं और प्राकृतिक उत्तेजनाओं का आगार अथवा जन्म-स्थान है। सामाजिक नियमों के विरुद्ध जो प्राकृतिक प्रेरणाएँ होती हैं, इसी 'अ-चैतन्य' भाग में ठेल दी जाती हैं, बन्दी बना दी जाती हैं; किन्तु वे बार-बार 'पूर्व-चैतन्य' और 'चैतन्य' अवस्था में व्यक्त होने का प्रयत्न करती रहती हैं। इन्हीं मूल सिद्धान्तों पर मनोविश्लेषणवादियों ने मनुष्य के सभी आचरणों के कारणों को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है; और इसमें सन्देह नहीं कि इस मार्ग से चलने पर अनेक धमनी-सम्बन्धित रोगों का ज्ञान बढ़ गया है, और जो असाध्य समझे जाते थे, वे अब साध्य हो गये हैं। मनोविश्लेषणवादी, 'माइण्ड' का निराकरण नहीं करता, केवल उसे तीन भागों में बाँट डालता है। आचरणवादी (Behaviourist) भी 'माइण्ड' का निराकरण नहीं करता, किन्तु वह इतना ही कहकर सन्तोष करता है कि यदि 'माइण्ड' या 'चैतन्य' (Consciousness) भी कोई चीज है, तो उसे हम जान नहीं सकते। हम पाते हैं कि किसी के भी विचार इन्द्रियगोचर नहीं होते; किन्तु हम सभी के आचरणों को देख सकते हैं और किसी भी मनुष्य के विषय में हमारी धारणाएँ उसके आचरणों के निरीक्षण पर ही बनती हैं। इस कारण हमें आचरणों का निरीक्षण करके देखना चाहिए

कि 'माइएड' और चैतन्य को बिना माने, हम प्रत्येक का कारण शरीर में ही पाते हैं या नहीं।

उपर्युक्त ध्येय को सामने रखते हुए आचरणवादी प्रयोगों को करता है और इस निश्चय पर पहुँचता है कि जीव जो कुछ भी करता है, जो कुछ भी सोचता है, जो कुछ भी उसके 'माइएड' में क्रियाएँ होती हैं, वे सभी शारीरिक क्रियाएँ हैं, और शारीरिक क्रिया केवल उत्तेजना (Stimulus) की प्रतिक्रिया (Response) हैं। उत्तेजना दो प्रकार की होती है—बाह्य और आन्तरिक। आन्तरिक उत्तेजना भीतरी अवयवों या इन्द्रियों (Organs) की क्रियाओं से होती है, जैसे यकृत (Liver) की अवस्था के अनुसार ही मनुष्य में शान्ति, चिड़चिड़ापन, क्रोध आदि होते हैं। बाह्य उत्तेजना, बाहरी पदार्थों से होती है। इन बातों को सिद्ध करने के लिए रूसी वैज्ञानिक पैवलोव (Pavlov) ने जो प्रयोग अपने पालतू कुत्तों पर किये थे वे विख्यात हो गये हैं। अमरीका के वाट्सन (Wadson) ने भी लाखों छात्रों की वृत्तियों की जाँच की। इन जाँचों के फलस्वरूप अनेक सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ। सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त Conditioned reflex or response (सापेक्ष-विक्षेप या प्रतिक्रियावाद) है। Reflex (विक्षेप) उस क्रिया को कहते हैं जो बिना सोचे-विचारे कर दी जाती है। 'सापेक्ष' वह 'विक्षेप' है, जो किसी उत्तेजना (Stimulus) के अभ्यस्त हो जाने पर, जब कभी उससे सम्बन्धित परिस्थिति आ जाती है, तो वह उसी तरह हो जाता है। इसे स्पष्ट करने के लिए पैवलोव के एक प्रयोग का उल्लेख कर देना आवश्यक है। वह एक निश्चित समय पर अपने कुत्तों के सामने प्लेटों में भरकर उनका खाना लाता था। प्लेटों को देखते ही उनके मुख से लार गिरने लगती थी। कुछ दिनों के बाद, वह जब प्लेट लाता तब एक घण्टी भी बजवाने लगता। कुछ दिनों में जब कुत्तों ने खाना के साथ घण्टी का सम्बन्ध स्थापित कर लिया, तब पैवलोव भोजन लाना बन्द करके केवल घण्टी ही बजाने लगा। देखा गया कि घण्टी बजते ही उनके मुँहों में लार

भर जाती थी। किन्तु, यदि कुछ दिनों तक बिना खाना लाये केवल घंटी ही बजती, तो लार का आना बन्द हो जाता। इसमें खाना का प्लेट तो निरपेक्ष उत्तेजना, लार का चूना निरपेक्ष (Unconditioned) विक्षेप (Reflex), घंटी, सापेक्ष (Conditioned) उत्तेजना (Stimulus) और उसे सुनकर जो लार निकले वे सापेक्ष-विक्षेप हुए। पैव्लोव के अनुसार मस्तिष्क (Brain) एक रेडियो-स्टेशन के समान है, जहाँ अनेक प्रकार की 'प्रवृत्तियाँ' (Impulses) बराबर आती रहती हैं। इनमें कुछ तो 'उत्तेजनात्मक' (Excitatory) और कुछ 'संयमात्मक' (Inhibitory) होती है। इन 'प्रवृत्तियों' से मस्तिष्क में रेखाएँ पड़ जाती हैं। प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य मस्तिष्क पर बने हुए इन चित्रों के अनुसार ही यन्त्र की तरह काम करता है। किसी भी काम में मनुष्य को कोई भी स्वतन्त्रता नहीं है, जैसे खाना को देखकर कुत्ते के मुख में लार का भर जाना कुत्ते में किसी संकल्प (Act of will) के हुए बिना ही होता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार, विचार करने की क्रिया भी केवल शारीरिक क्रिया है—यानी, चुपचाप बोलना है, और इसके कारण गर्दन, हाथ आदि अंगों की क्रियाएँ, गतियाँ हैं।

आचरणवाद का खण्डन गेस्टाल्ट (Gestalt) आदि मनो-वैज्ञानिकों ने किया है। इस वाद-विवाद के चक्र में पड़ने की यहाँ आवश्यकता नहीं। हमें तो केवल यही देखना है कि पाश्चात्य विचार-धाराएँ कहाँ तक भारतीय विचारों के पाम आती जाती हैं।

हम देख चुके हैं कि वस्तु-विज्ञान और जीव-विज्ञान, दृश्य-जगत् (World-phenomena) की समस्याओं को हल करने के लिए एक चैतन्य कारण—चाहे उसे 'माइण्ड' कहें, वा चैतन्य 'जीवन-प्रवाह' (Life-stream) कहें—निश्चित करने की ओर झुका रहे हैं। भारतीय ऋषियों ने जैसा 'ब्रह्म' का वर्णन किया है, उसी से मिलता-जुलता वर्णन उपर्युक्त वैज्ञानिकों ने 'माइण्ड' आदि का किया है। आचरण-

वादी आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त, पाश्चात्य वातावरण में आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं, किन्तु भारतीय विचारों से परिचित व्यक्ति को उनमें कोई नवीनता प्रतीत नहीं होनी चाहिए; क्योंकि गीता ने भारतीय विचारों को स्पष्ट करते हुए बहुत पहले ही कह दिया है—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकार विमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते । शंकर ने भी गाया है—मनोबुद्धयहंकार चित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे । न च व्योम भूमी न तेजो न वायुः चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ।

यद्यपि पाश्चात्य विचारों की प्रगति भारतीय विचारों की ओर ही हो रही है, दोनों में एक मौलिक भेद है । भारतीयों ने प्रारम्भिक अवस्था में ही निश्चय कर लिया था कि 'सत्य' इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता, और न चौबीस प्राकृतिक तत्त्वों के अध्ययन से ही उसका साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है; किन्तु पाश्चात्य विचार अभी तक इसी निष्फल प्रयत्न में लगा है कि ज्ञाता को ज्ञान का विषय, इन्द्रियातीत को इन्द्रियगोचर बना डाले । यह नहीं कि भारतीयों ने तत्त्वों के ज्ञान का बहिष्कार किया हो; उनकी दृष्टि में अपने-अपने स्थान पर सभी आवश्यक हैं—विद्याञ्चाविद्याञ्च पन्तद्वे दोषयं सह । अविद्याया मृत्युं कीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥

[अक्तूबर, १९५०]

पाश्चात्य विज्ञान और भारतीय दर्शन

भर्तृहरि ने अपने नीति-शतक में बुद्धि-विहीन, या विद्या, कला आदि से विहीन मूर्ख को 'पुच्छ विपाण हीनः' पशु, मृगा आदि बताया है। इसका कारण यह है कि जैसे पशु की विशिष्टता उसके शारीरिक गठन, शक्ति आदि में रहती है, मनुष्य की विशिष्टता उसकी बुद्धि में रहती है। बुद्धि के होने से ही मनुष्य विचारशील जीव है और वह अपनी बुद्धि को जितना ही संस्कृत बनाता है उतना ही उसके विचार उन्नत और पुष्ट होते हैं। अनीत के अन्धकारमय उदर से निकाली हुई मनुष्य जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्रियाँ भी इस विशिष्टता को भलीभाँति सिद्ध करती हैं। इतिहास हमें बताता है कि असभ्य अवस्था में भी मनुष्य अपनी परिस्थितियों पर विचार करते हुए उनमें अपनी आवश्यकता के अनुकूल परिवर्तन करने की चेष्टा करता था। शारीरिक दृष्टिकोण से देखने पर हमें स्पष्ट मालूम होगा कि मनुष्य का शरीर अत्यन्त हीन है—इसमें न चतुष्पदों का-सा सन्तुलन है न सिंह की-सी सुन्दर गठन, न हाथी का बल, न मृगा की तेजी, न घोड़े की सहन-शक्ति। मनुष्य का जिगर बात-बात में बिगड़ जात है, किन्तु पशुओं का जिगर शायद ही कभी बिगड़ता हो। वे ऐसे पदार्थों को पचा डालते हैं जिन्हें खाने का मनुष्य साहस ही नहीं कर सकता। वीरारियों का तो मनुष्य घर ही हो गया है; और पशुओं को डने-गिने ही रोग हुआ करते हैं। यही है हमारे इस मानव शरीर की वास्तविकता जिसकी महिमा गाते हम कभी अघाते नहीं।

यद्यपि मनुष्य-जाति-मात्र विचारशील है, तथापि पृथ्वी के सभी देशों में बुद्धि का विकास न तो एक साथ ही, न एक ही दिशा में, हुआ।

किन्तु, जहाँ कहीं भी ऐसी सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं जिनसे मनुष्य के विचारों का पता चले, वहाँ हम पाते हैं कि मनुष्य, प्राचीनतम काल से ही अपने और अपने संसार के विषय में अनेक मौलिक प्रश्न करता आया है। उन प्रश्नों का उत्तर सभी जातियों ने, अपनी-अपनी बुद्धि के विकास के अनुसार ही दिया था, वे आज भी देती जा रही हैं; और उन्हीं उत्तरों के आधार पर वे जातियाँ अपने सांसारिक जीवन के नियमों को खड़ा करती आयी हैं। इन्हीं भिन्न-भिन्न उत्तरों के कारण, भिन्न-भिन्न सभ्यताओं का जन्म हुआ और एक सभ्यता का दूसरी सभ्यता से संघर्ष भी होता रहा। मिस्र, बैबिलन, क्रीट, इजरायल आदि की सभ्यताओं के अध्ययन के लिए सामग्रियों की कमी नहीं है; किन्तु उन जातियों के विचारों के विकास का क्रमवद्ध वर्णन नहीं मिलता। अतः इतिहासकारों ने प्राप्त सामग्रियों से ही उनके धार्मिक और सामाजिक विचारों, सिद्धान्तों और विधियों का अटकल लगाया है। इसके प्रतिकूल भारतीय साहित्य के अध्ययन से भारतीय विचारों का उत्थान और विकास, स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सभी विद्वान यह मानते हैं कि मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था के विचारों से लेकर उन्नत अवस्था तक के विचारों को हम भारतीय साहित्य में पाते हैं। इसलिए इस साहित्य के अध्ययन से हमें मानव-विचारों के उद्भव, विकास और उत्कर्ष का ऐसा सुसम्बद्ध चित्र मिलता है, जो चल-चित्र की नाईं भलक उठता है और जिसकी समता किसी दूसरी प्राचीन सभ्यता में नहीं हो सकती। इन विचार-धाराओं के अध्ययन के लिए प्रचुर परिमाण में समय और साधन अपेक्षित है।

सभी जानते हैं कि बीसवीं शताब्दी में पदार्थ-विज्ञान (Physics) ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। जिन सिद्धान्तों को यह विज्ञान न्यूटन (Newton) के समय से ही पुष्ट करता आया था, उन सिद्धान्तों के सामने बीसवीं सदी की प्रगति ने प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिकों की धारणा थी कि द्रव्य (Matter) समस्त विश्व का कारण है और विश्व-रचना के लिए किसी 'अल्ला' या

‘ईश्वर’ का सहारा लेना आवश्यक नहीं है। द्रव्य के विषय में उनकी धारणाएँ सीधी-सादी थीं। वह एक इन्द्रिय गम्य पदार्थ था, जो आकाश (Space) में इन्द्रियगोचर होकर पड़ा था, और जिसकी स्थिति के प्रमाण खोजने नहीं पड़ते थे। वह स्वयं सिद्ध था, उसके विषय में संशय उठना असम्भव था। उन दिनों के वैज्ञानिकों का यह दावा था कि यह संसार यन्त्र की तरह है और इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ जानने को शेष नहीं रह जायगा। उनकी दृष्टि में ईश्वरवाद वस्तुतः नीच कोटि के मस्तिष्कों के मन-बहलाव का साधन था। मनुष्य के विषय में उनकी धारणा थी कि वह भी एक यन्त्र ही है और यन्त्र की तरह उसकी भी जाँच होनी चाहिए। इस सिद्धान्त पर मनोविज्ञान भी पदार्थ-विज्ञान का अनुकरण करने लगा और प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा करने लगा कि आत्मा (Soul) का अस्तित्व मानना आवश्यक नहीं है। ज्योतिष-शास्त्र और जीव-विद्या के अनुसार पृथ्वी, मनुष्य और मनुष्य के मस्तिष्क का इस विश्व में उतना ही मूल्य है जितना समुद्र की रेती पर एक बालुकण का।

बीसवीं शताब्दी के पदार्थ-विज्ञान ने इन सभी धारणाओं के आधारों को हिला दिया है। यद्यपि उसने मनुष्य, मनुष्य के मस्तिष्क और मनुष्य की पृथ्वी की हीनता को स्पष्टतर ही किया है, उसने यह भी सिद्ध कर दिया है कि ‘द्रव्य’ कोई सरल पदार्थ नहीं, बल्कि ऐसा रहस्यमय और इन्द्रियातीत है कि उसके आधार पर नास्तिक सिद्धान्तों का खड़ा रहना असम्भव है। आधुनिक ज्योतिष-विज्ञान ने ज्ञात विश्व के ओर-छोर को बहुत बढ़ा दिया है। आकाश अनन्त प्रतीत होता है। इस आकाश में एक नहीं, अनेक तारामण्डल—जिन्हें हम प्राचीन भारतीय भाषा में ‘ब्रह्माण्ड’ कह सकते हैं—वर्तमान हैं। ऐसे प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सृष्टि नेबुला (Nebula) के टूटने से हुई थी। ‘मौण्ट विल्सन’ वाले बृहदाकार दूरबीन से देखने पर आकाश का जितना खण्ड दीख पड़ता है, उसमें अभी तक बीस लाख हिरण्यगर्भ (नेबुला) गिने जा चुके हैं। सर

जेम्स जीन्स ने गणना करके बताया है कि उस दूरबीन से दृष्ट और अदृष्ट आकाश-खण्डों का कुल जोड़, दृष्ट अंश से कम-से-कम, एक अरब गुना बड़ा है। प्रत्येक हिरण्यगर्भ में इतना द्रव्य रहता है कि उसमें हमारे सूर्य के समान एक अरब सूर्य बन सकते हैं। प्रत्येक हिरण्यगर्भ में अनुमानतः एक अरब तारे होते हैं। यदि एक अरब को बीस लाख से गुणा किया जाय और प्राप्त संख्या को एक अरब से गुणा किया जाय, तो वर्तमान तारों की संख्या का अनुमान हो सकता है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सर जेम्स कहते हैं कि यदि हम समुद्र के सभी तटों पर स्थित सब बालुका-कणों को गिन डालें, तो सम्भवतः तारों की संख्या का अनुमान लगा सकें। आकाश के विस्तार का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इतने अमंख्य तारों के होते हुए भी आकाश का अधिकांश सूना पड़ा है। इस अनन्त आकाश में मनुष्य और पृथ्वी का क्या महत्व है ? हमारा सूर्य जो सब तारों से छोटा है, हमारी पृथ्वी से दस अरब गुना बड़ा है।

विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात् भी जिस प्रकार इस विश्व के विस्तार का कोई अनुमान नहीं हो पाता, उसी तरह भूतत्वविद्या और जीव-विज्ञान के अध्ययन से काल का भी ओर-छोर नहीं मिलता। भूतत्वविद्या के अनुसार एक समय था जब यह पृथ्वी गैस के रूप में थी, और उसी रूप में यह असंख्य युगों तक रही। आज से लाखों वर्ष हुए जब प्रारम्भिक समुद्रों में कीटाणुओं (Protoplasm) के रूप में पार्थिव जीव का उद्भव हुआ था। इस अनन्त काल की दृष्टि से देखने पर मनुष्य नामधारी जीव का इतिहास अभी कल का मालूम पड़ता है। इन सब बातों की पृष्ठ-भूमि में उन सनातन प्रश्नों—यह संसार क्या है, और मनुष्य का उससे क्या सम्बन्ध है, इसका कोई चैतन्य निर्माता भी है या नहीं, आदि—की गरिमा स्पष्टतर हो गयी है, और उनके उत्तर की आकांक्षा तीव्र और अनिवार्य हो उठी है।

ऐसी परिस्थिति में यदि मनुष्य आशा भरी दृष्टि से पदार्थ-विज्ञान की ओर देखें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं; किन्तु पदार्थ-वैज्ञानिक उत्तर देता है कि परम सत्य को ढूँढ़ना उस विज्ञान का काम नहीं है; और सच पूछा जाय तो वह इसके पीछे पड़ना भी नहीं चाहता। पहली बात तो यह कि वह किसी भी पदार्थ का अध्ययन उसकी पूर्णता में नहीं करता। हम प्रत्येक पदार्थ को अनेक गुणों से युक्त पाते हैं किन्तु पदार्थ विज्ञान उनके ऐसे ही गुणों का अध्ययन करता जिनका नाप तोल हो सकता है। इस तरह वैज्ञानिक केवल गति, आकार-प्रकार और संख्या का ही अध्ययन करता है। हम संसार में सौन्दर्य, गन्ध, रस, ताप, संगीत-माधुर्य आदि पाते हैं, किन्तु पदार्थ-विज्ञान में इनका कोई स्थान ही नहीं है। नीचे इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

ताप हमारे जीवन के लिए बड़ा महत्त्व रखता है। उसके अधिक होने से हम जल सकते हैं, उसके अभाव में हम ठंड से मर जा सकते हैं। यदि वैज्ञानिक से पूछा जाय तो वह कहेगा कि ताप तो किसी पदार्थ के अणुओं (Molecules) की गति का तेज है; उदाहरणार्थ, 'गैस' को लें। गैस के एक अणु (Molecule) का नाप है एक इंच का दस करोड़वाँ हिस्सा। अणुओं के बीच में बहुत स्थान रहता है। अणुओं में गति होती है। वे स्थायी रूप से एक स्थान पर नहीं रहते। उनका वेग प्रति सेकण्ड सैकड़ों गज होता है। इस दौड़ में एक अणु दूसरे अणु से टकराता रहता है और इसी टकराने से उस गैस का एक निश्चित ताप रहता है। यदि वह गैस अग्नि पर रक्खा जाय तो अणुओं का वेग बढ़ जायगा और वे आपस में अधिक शक्ति से टकरावेंगे, और ताप भी बढ़ने लगेगा। कहने का तात्पर्य यह कि जब वैज्ञानिक ताप का वर्णन करता है, तब उसके वर्णन में 'ताप' की तो कोई बात नहीं ही रहती, और न वह यही कहता है कि ताप का स्वरूप क्या है।

साधारण मनुष्य के लिए यह संसार शब्दमय है। शब्दों में मधुरता होती है, कर्कशता भी होती है। यदि विशिष्ट अनुक्रम से शब्दों

का उच्चारण किया जाय, तो उसे हम संगीत आदि की संज्ञा देते हैं और उसे सुन कर हम मुग्ध हो जाते हैं। किन्तु, यदि हम पदार्थ-वैज्ञानिक से पूछें कि शब्द क्या है, तो वह इन बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं देगा, और कहेगा कि शब्द वायु में एक प्रकार की तरङ्ग है, अथवा एक प्रकार की तरङ्गों के कारण 'शब्द' होता है। इस तरङ्ग की लम्बाई या छोटाई के अनुसार शब्द का स्वर उच्च या नीच होता है; उसके स्फुरण के आधिक्य के अनुसार मुर, और स्फुरण के प्रकार के अनुसार गुण होता है।

यदि वैज्ञानिक से पूछा जाय कि ठोस पदार्थों का कड़ापन क्या है, तो वह कहेगा कि कड़ापन नाम की कोई चीज नहीं है। ठोस पदार्थों में बहुत परमाणु थोड़े अवकाश में ढूँसे रहते हैं, और जब हम ऐसे पदार्थ को छूने का प्रयत्न करते हैं, तो हमारी उँगलियों के परमाणुओं की बिजली और उस पदार्थ की बिजली में संघर्ष हो जाता है, जिससे 'कड़ापन' प्रतीत होता है। प्रयत्न जितना ही अधिक होता है, उतना ही 'कड़ापन' अधिक प्रतीत होता है। वास्तव में परमाणुओं या उनके 'एलेक्ट्रॉनों' का स्पर्श होता ही नहीं।

उपर्युक्त रीति से दिखाया जा सकता है कि गन्ध, रंग, ज्योति आदि अनेक गुणों का वर्णन करने में पदार्थ-विज्ञान ऐसे कारणों का उल्लेख करता है जिसमें उन गुणों का कहीं पता नहीं रहता। फलस्वरूप हम दो ही अनुमानों पर पहुँच सकते हैं—या तो पदार्थ-विज्ञान इन गुणों के बारे में कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं कर पाता, अथवा इन गुणों को हम अपने अन्तःकरण की शक्तियों (Mind) से बाह्य जगत् में जोड़ देते हैं। इन बातों को स्पष्ट करने के लिए हमें देखना होगा कि हमें बाह्य जगत् की धारणा कैसे होती है, और उसके विषय में पदार्थ-विज्ञान क्या कहता है। किन्तु इसके पहले हमें द्रव्य के आधार परमाणु के विषय में वैज्ञानिक सिद्धान्तों को जान लेना आवश्यक है।

यह सर्वमान्य है कि यह स्थूल जगत द्रव्य से बना है। द्रव्य क्या है ? यन्त्र-विज्ञान (Mechanics) के अनुसार द्रव्य वह वस्तु है जिसमें निम्नलिखित स्थूल राशियाँ मूर्तिमान हों—पिंड (Mass), वेग (Momentum) और भार (Stress) । इस परिभाषा से कुछ स्पष्ट नहीं होता और 'द्रव्य' के सत्य-स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता । पिंड, वेग और भार की जब परिभाषाएँ दी जाती हैं, तब फिर दूसरी परिभाषाओं की आवश्यकता होती है और इस क्रम से हम वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ से प्रारम्भ किया था ।

उत्तीसवीं शताब्दी में परमाणु, द्रव्य की तरह, एक ठोस गोलाकार, एक-रस पदार्थ माना जाता था । किन्तु, इस शताब्दी के प्रारम्भ में, परमाणु की तुलना सूर्य-मण्डल से की जाने लगी थी । सूर्य की जगह स्वीकारात्मक-बिजली (Positive Electricity) का कुछ अंश केन्द्र पर मान लिया गया और उसका नाम प्रोटन (Proton) रक्खा गया । इन प्रोटनों की परिक्रमा करते एक या अधिक एलेक्ट्रॉन (Electron) माने गये जो ग्रहों की तरह, उन केन्द्रवर्ती प्रोटनों और निउट्रॉनों के चारों ओर, विभिन्न कक्षाओं पर दौड़ा करते हैं । एलेक्ट्रॉनों के विषय में यह विचित्रता पायी गयी कि वे कुछ ही कक्षाओं पर दौड़ा करते हैं । ऐसा कभी नहीं होता कि वे जिस किसी कक्षा पर घूमने लगें । यह भी पाया गया कि केन्द्र से इन कक्षाओं की दूरी एक विचित्र गणित के नियम से निश्चित होती है । दूसरे शब्दों में, यह पाया गया कि कक्षा की त्रिज्या (Radius) एक विशेष संख्या का अभिन्न भाग (Whole number) होता है । परमाणु कभी एक ही अवस्था में नहीं रहता । वह या तो बाहर से तेज का संग्रह करता है, अथवा अपने तेज को बाहर विकीर्ण करता है । यदि वह संग्रह करता है, तो एलेक्ट्रॉन (Electron) भीतरी कक्षा से कूदकर, किसी बाहरी कक्षा पर दौड़ने लगता है ; जब वह तेज विकीर्ण करता है, तब एलेक्ट्रॉन बाहरी कक्षा से किसी भीतरी कक्षा पर कूद जाता है । एक विशेषता इस 'कूदने' में है । यदि कोई एक जगह से कूदे और दूसरी

जगह पहुँचे, तो दोनों स्थानों के बीचवाले स्थान से उसका जाना स्पष्ट विदित होगा ; किन्तु एलेक्ट्रन के कूदने में ऐसा नहीं होता । ऐसा प्रतीत होता है कि वह वर्तमान कक्षा पर बुझ जाता है और फिर एक नयी कक्षा पर जल उठता है । साथ-ही-साथ यह कहना असम्भव है कि ऐसा कूदना क्यों और कब होगा, और, यदि उस परमाणु में एक से अधिक एलेक्ट्रन हैं, तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि कौन-कौन एलेक्ट्रन कूदेंगे । जहाँ एक से अधिक एलेक्ट्रन हों, वहाँ अधिक-से-अधिक यही किया जा सकता है कि गणना करके यह निकाला जाय कि उन एलेक्ट्रनों में से कितने प्रतिशत के कूदने की सम्भावना है । किसी विशिष्ट एलेक्ट्रन के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता । इसी तरह किसी भी विशेष तेजपुञ्ज की गति के विषय में हम नहीं कह सकते कि वह किस दिशा में जायगा । उदाहरणार्थ, ज्योतिपुञ्ज को लिया जाय । हम अनेक परीक्षाओं के बाद, केवल एक सम्भाव्यता का नियम निकाल सकते हैं जिसके अनुसार हम यही कह सकेंगे कि उस ज्योतिपुञ्ज का एक निश्चित दिशा में जाना सम्भव भर है ।

आज परमाणु के सम्बन्ध में ज्ञान की सीमा बहुत बढ़ गयी है और अब समझा जाने लगा है कि उसकी सूर्य-मण्डल के साथ तुलना यथार्थ नहीं, केवल एक गहन विषय को बुद्धिगम्य करने की युक्ति भर है । इस विचार-परिवर्तन का कारण यह है कि एलेक्ट्रन या प्रोटन किसी के भी सम्बन्ध में हम पर्याप्त ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके हैं । कुछ वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि यदि हम किसी तरह एलेक्ट्रन के स्थान का पता लगाते हैं तो उसकी गति का पता नहीं चलता और यदि गति का पता लगाते हैं तो उसके स्थान का पता नहीं चलता । इसका मुख्य कारण यह है कि एलेक्ट्रन हमारी इन्द्रियों के परे की वस्तु है और यदि हम उसकी स्थिति का कोई दूसरा प्रमाण ढूँढते हैं तो उसकी स्थिति में गड़बड़ी पैदा कर देते हैं । वस्तुतः हम एलेक्ट्रन की स्थिति तब तक जान नहीं सकते जब तक कि वह अपने आसपास कोई इन्द्रियगम्य घटना न उत्पन्न करे । एलेक्ट्रन आज के

उपलब्ध अणुबीक्षण-यन्त्रों से नहीं, किन्तु अद्भुत शक्तिवाले अणुबीक्षण-यन्त्रों से तभी देखा जा सकता है जब उसके निरीक्षण के लिए विशिष्ट तेज-पुञ्ज का व्यवहार किया जाय। किन्तु, तेज-पुञ्ज के आघात से एलेक्ट्रन की स्थिति में उलटफेर हो जाती है। सारांश यह कि यदि एलेक्ट्रन स्थिर अवस्था में है, तो हम उसे किसी तरह जान नहीं सकते और न उसका अनुमान ही कर सकते हैं। हम परमाणु का अनुमान तब कर पाते हैं जब तेज-सञ्चय या तेज-वितरण होता है।

एलेक्ट्रन आदि के सिद्धान्तों में अभी परिवर्तन होता ही जा रहा है—जैसे, तरंग-सिद्धान्त। जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथम तो यह कि द्रव्य का ठोसपन अब जाता रहा और वह तेज ही तेज है। यह तेज कोई दूसरे पदार्थ में अथवा माध्यम में नहीं है, यह स्वयं-सिद्ध तेज है। दूसरी बात यह है कि परमाणु प्रत्यक्ष नहीं जाना जाता; इसकी स्थिति का अनुमान इसके व्यक्त प्रभाव से किया जाता है।

अब हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि हमें बाह्य-जगत् की धारणा कैसे होती है, और उसके विषय में पदार्थ-विज्ञान क्या कहता है। मान लिया जाय कि मैं एक वृद्ध को देखता हूँ। उपरोक्त वैज्ञानिक विश्लेषणों के अनुसार, वृद्ध रूपी पदार्थ के परमाणुओं में नित्यप्रति क्रियाएँ होती रहती हैं। उस पदार्थ से कुछ ज्योति की रश्मियाँ मेरी आँखों पर पड़ती हैं। उस पदार्थ से मेरी आँखों तक पहुँचने में इन रश्मियों में कुछ परिवर्तन होते हैं जो साधारण मनुष्य नहीं समझ सकता। जब यह रश्मि मेरी आँखों पर पड़ती है, तब वह बाहरी झिल्लियों को पारकर अन्तःझिल्ली (Retina) पर पड़ती है। उस झिल्ली पर पहुँचने के अनन्तर वहाँ पर एक दूसरी क्रिया अथवा परिवर्तन आरम्भ हो जाता है, जो मेरे देखने की शक्ति से सम्बन्ध रखनेवाली शिराओं अथवा धमनियों से होता हुआ मेरे मस्तिष्क (Brain) में पहुँचता है, और वहाँ पर एक क्रिया आरम्भ करता है। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि हम आज भी इस मस्तिष्क (Brain) की

क्रियाओं के विषय में बहुत कम जानकारी रखते हैं। इस मस्तिष्क (Brain) की स्थूल क्रिया के बाद, एक नये प्रकार की क्रिया आरम्भ होती है जो अध्यात्मिक वा मनोवैज्ञानिक (Psychological) कही जा सकती है, और जिसे हम 'देखना' कहते हैं। यह देखने की क्रिया, न तो उन क्रियाओं को देखती जो हमारे मस्तिष्क में हुईं, न उनको जो हमारे क्लिलियों में, अथवा धमनियों में हुईं और न उन्हीं को देख पाती जो मेरी आँखों के बाहर उन ज्योति की रश्मियों में हुईं जो उस वृत्त से चली थीं। यह छान-बीन कैसे और क्यों हुई ? मैं क्यों केवल एक वृत्त भर देख पाता हूँ ?

यह तो स्पष्ट है कि वृत्त देखने की क्रिया का यह वर्णन अत्यन्त विचित्र और असन्तोष-जनक है। किन्तु इसे कुछ और उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। पदार्थ-विज्ञान (Physics) के अनुसार, ज्योति तरङ्ग की गति प्रति सेकण्ड १,८६,००० मील है। हमारे सूर्य-मण्डल से निकटतम तारा सिरियस् है। इस सिरियस् की रश्मियों को पृथ्वी पर पहुँचने में वर्षों लग जाते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिये, हम मान लें कि मैं सिरियस् को आज रात में देखता हूँ। किन्तु जो रश्मियाँ आज मेरी आँखों में आती हैं, वे तो सिरियस् से वर्षों पहले चली थीं। अब प्रश्न उठता है कि आज रात मैं क्या देख रहा हूँ ? सम्भव है कि इन वर्षों के भीतर वह सिरियस् नष्ट हो गया हो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मैं एक ज्योतिपुञ्ज को देखकर अनुमान करता हूँ, कि मैं सिरियस् को देख रहा हूँ। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि अनुमान कभी-कभी गलत भी होता है।

इसी सिलसिले में एक और उदाहरण पर विचार कर लेना चाहिए, यद्यपि यह साधारण पाठकों के लिए शायद कठिन हो। यदि साधारण मनुष्य से पूछा जाय कि ज्योति क्या है तो वह यही कहेगा कि वह प्रकाश करनेवाली किरण है; किन्तु वस्तु-वैज्ञानिक कहेगा कि ज्योति-विद्युत्-चुम्बकीय-सप्तरञ्जन (Electro-magnetic-spectrum) में विशिष्ट माप

और स्पन्दन (Frequency) वाली तरंगावली है। इस विशिष्ट तरंगावली में कुछ भाग रंगों के लिए निश्चित हैं। इस नियमित भाग के एक सिरे पर सबसे छोटे माप और सबसे अधिक स्पन्दनवाले तरंग हैं और वहीं पर पाटल (नील-लोहित, Violet) रंग होता है। दूसरी छोर पर लाल रंग होता है। पाटल किरणों के पीछे पाटलातीत (Ultraviolet rays) किरणें, और लाल के आगे रक्तातीत (Infra-red rays) होती हैं, जिन्हें हम देख नहीं पाते। इस तरह यद्यपि ज्योति-तरंगावली विस्तृत है, परन्तु अधिकांश तरंगों को हम इन आँखों से नहीं देख सकते। ऐसे तरंगों में X-ray भी है जिसे हम देख तो नहीं पाते किन्तु जिससे शरीर के भीतर की हड्डियों की तस्वीर ली जाती है। हम केवल उन्हीं तरंगों को देख पाते हैं जिनमें विशिष्ट रंग हैं। यदि हमारी आँखें केवल X-ray ग्रहण कर सकती तो हमारे लिए इस संसार का क्या रूप होता ?

उपरोक्त सभी उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि बीसवीं सदी का वस्तु-विज्ञान सिद्ध करता है कि इन्द्रियों पर विश्वास नहीं किया जा सकता और इन्द्रिय-जन्य ज्ञान कभी पूर्ण नहीं हो सकता।

सर जेम्स जीन्स और प्रो० एडिगटन इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि सत्य का ज्ञान वस्तुविज्ञान से नहीं प्राप्त हो सकता। सत्य की प्राप्ति सहज-ज्ञान से ही सम्भव है। आज के विख्यात वैज्ञानिकों का एक दल मानने लगा है कि इन्द्रियगम्य संसार की सत्ता हम अपने अन्तःकरण से ही प्रदान करते हैं। सत्ता केवल चैतन्य की है, और द्रव्य चैतन्य का आश्रित है। सर जेम्स स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यह संसार सृष्टिकर्ता के अन्तःकरण का विचाररूप है। हम जो कुछ देखते हैं, वह केवल प्रतीति है, सत्य तो दूसरा ही है। पदार्थ विज्ञान का विषय नाम-रूप है, न कि सत्य।

उन्नीसवीं शताब्दी मनुष्य को एक यन्त्र मान बैठी थी। अब अनेक प्रयोगों और जीवतत्व के सूक्ष्म अध्ययन से सिद्ध हो गया है कि यन्त्रवाद

से सब प्रश्न हल नहीं होते। हैल्डेन, बर्गसन आदि विख्यात शास्त्रज्ञ जीव-सत्ता को आध्यात्मिक मानने लगे हैं। अन्य कुछ लोगों की दृष्टि में जीव (आत्मा) और द्रव्य के परस्पर संयोग से ही यह सृष्टि सम्भव हुई है, और दोनों की ही अपनी अलग-अलग सत्ता है। एक दूसरे दल के सिद्धान्तों में जीव-शक्ति (आत्मा) की प्रधानता है और द्रव्य उसके अधीन है। इस तरह जीव-विद्या भी पदार्थ-विज्ञान का अनुसरण करता हुआ, नास्तिकवाद का खण्डन कर रहा है।

अब हम भारतीय विचारधारा के प्रकाश में इस प्रश्नपर विचार करें। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही अनेक विचारधाराएँ थीं और समय-समय पर प्रत्येक विचारधारा की पुष्टि होती रही है। अथर्ववेद के जादू-टोना, प्रेतपूजा से लेकर, इन्द्रादि बहुदेव-पूजन, ऋग्वैदिक पुरुषसूक्त का 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' और चारवाकों के नास्तिक सिद्धान्तों तक हम वैदिक साहित्य में ही पाते हैं। आगे चलकर इन धाराओं की पुष्टि षट्दर्शनों तथा बौद्ध और जैन मतों से हुई। किन्तु, जब आठवीं-नवीं शताब्दी में शंकर ने अद्वैत वेदान्त की प्रधानता स्थापित कर दी, तो दूसरी धाराएँ भारत में लुप्तप्राय हो गयीं। पीछे रामानुज ने प्राचीन भागवत मत को पुनरुज्जीवित करके द्वैत वेदान्त को जन्म दिया। आगे चलकर इस धारा ने चैतन्यादि के भक्ति-मार्ग में पूर्णता प्राप्त की। वैदिक पुरुषसूक्त में अंकुरित विचारों का विकसित और स्पष्ट रूप हम उपनिषदों के ब्रह्मवाद या आत्मवाद में पाते हैं। इस आत्मवाद तथा वेदों के कर्म-काण्ड से असन्तुष्ट होकर बुद्धदेव और महावीर जिन ने अपने नास्तिकवादों को पुष्ट किया। तदन्तर प्रचलित मत-मतान्तरों का वह अद्भुत समन्वय हुआ जिसे हम भगवद्गीता के रूप में पाते हैं। इधर अनेक शताब्दियों से किसी नवीन विचारधारा का उद्भव नहीं हुआ है।

उपर वर्णित सभी विचारधाराओं ने उन मौलिक प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है जिनका उल्लेख प्रारम्भ में ही किया गया है। यदि हम

भगवद्गीता को आधार बनाकर चलें तो प्रमुख भारतीय विचारों का उल्लेख हो जायगा ।

यह संसार, जिसका हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं, निःसार है, असत् है, और उसकी प्रतीति भी इसी से है कि वह ब्रह्म से पृथक् नहीं है । ब्रह्म ही एक सत् है, किन्तु उसकी परिभाषा शब्दों में नहीं दी जा सकती । इसीलिए उसे सत् और असत्, दोनों ही से परे भी कहा गया है । वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, निर्विकल्प, स्वयंसिद्ध है । उसका सम्बन्ध इन्द्रियगोचर प्रपञ्च से वैसा ही है, जैसा समुद्र का समुद्र की तरंगों के साथ । जैसे तरंग समुद्र का जल ही है, किन्तु वह 'तरंग' कहा जाता है, उसी तरह यह नामरूप संसार ब्रह्ममय है, उससे अलग इसकी स्थिति नहीं है । हम देखते हैं कि स्वप्न की सत्यता की प्रतीति बराबर बनी रहती है, और उसकी निःसारता तभी प्रत्यक्ष होती है जब स्वप्नावस्था का अन्त हो जाता है ; उसी तरह यह संसार भी प्रतीति में स्थित, ब्रह्म की चैतन्यता से त्रासमान और अज्ञानावस्था में अंकुरित है । इसी को माया कहते हैं, क्योंकि उसमें सत्यता तो है नहीं किन्तु सत्यभास है । माया की उत्पत्ति अविद्या से होती है, और अविद्या स्वरूप का विस्मरण है । शंकर के अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है । वह अन्तःकरण रूपी आइने में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मात्र है जो अहंकार से युक्त होकर अपने को सीमित, दीन व्यक्ति तक मानने लगता है । अविद्या के दूर हो जाने पर यह व्यक्तित्व का भ्रम उसी तरह दूर हो जाता है जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम दीपक से दूर हो जाता है । द्वैतवादियों के अनुसार जीवात्मा का व्यक्तित्व सत्य है और वह मुक्ति होने पर भी नहीं मिटता । जीवात्मा ब्रह्म का अंश है, किन्तु अविद्या के वशीभूत होकर वह अपने अजर-अमर रूप को भूल जाता है और दुःख-सुख भोगता है । जब वह भक्ति द्वारा भगवत्कृपा को पाता है तब उसे भगवत्साक्षात्कार होता है और वह ब्रह्म में लीन हो जाता है । ब्रह्म में—दूसरे शब्दों में सत्-चित्-आनन्द में—स्फुरणा या संकल्प

होने के कारण अहंकार, बुद्धि आदि, सांख्य के २४, और वेदान्त के आठ तत्त्वों की सृष्टि, और उन्हीं से इस संसार की प्रतीति होती है ।

अब यदि हम उल्लिखित वैज्ञानिक सिद्धान्तों की ओर देखें, तो पायेंगे कि यद्यपि विज्ञान अभी इस संसार को केवल प्रतीति में स्थित मानने को तैयार नहीं है, वह इन्द्रियों से अपना विश्वास हटाने लगा है । एलेक्ट्रन, प्रोटन, नेबुला के विषय में जो विचार हैं, उनकी तुलना हमारे हिरण्यगर्भ से की जा सकती है । जब आठवें लोक—भुवः—से भूलोक की सृष्टि हुई, तब इसका प्रथम व्यक्त रूप हिरण्यगर्भ (Goldenegg) का हुआ था जैसे अव्यक्त एलेक्ट्रन और प्रोटन, व्यक्त द्रव्य का, और अव्यक्त तेज-पुञ्ज नेबुला का रूप धारण करता है, उसी तरह अव्यक्त मूल प्रकृति—स्वप्नावस्थित नारायण की नाभी से—ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ का रूप धारण करती है, तब सृष्टि होने लगती है । हमारे दस अवतारों का अनुक्रम बहुत अंशों में जीव-विद्या और भूतत्व-विद्या के सिद्धान्तों से मिलता है । मत्स्या-वतार, कच्छपावतार, वाराहावतार, नृसिंहावतार, परशुरामावतार, इत्यादि क्रमिक विकास के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं ।

[जुलाई, १९५० ई०]

आलोचना व निष्कर्ष

अमरीका का स्वतन्त्रता-युद्ध

यदि यह सत्य है कि मानव-हृदय में स्वतन्त्रता की इच्छा स्वभावतः जाग्रत होती है, तो यह भी सत्य है कि धनी, बली और बुद्धिमान मनुष्यों तथा जातियों में, अपने से हीन, दुर्बल और कम बुद्धि वाले मनुष्यों और जातियों को, अपने सुख और वैभव का साधन बनाने की इच्छा उग्रतर होती है। विश्व का इतिहास इन्हीं दो विरोधी शक्तियों के परस्पर संघर्ष का वर्णन है। अमरीका का अर्वाचीन इतिहास इसका एक उदाहरण है।

जब कोलम्बस पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में अमरीका पहुँचा, तब मानों वहाँ के आदि-निवासियों का प्रलय-काल आ गया। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका महाद्वीपों के आदि-निवासियों की अनेक जातियाँ थीं, कुछ सभ्य और कुछ असभ्य। मेक्सिको (Mexico) और पीरू (Peru) में सभ्य जातियाँ, जैसे माया (Maya), ऐजटेक (Aztec) आदि, रहती थीं। जिस प्रदेश को इस समय युनाइटेड स्टेट्स (United States) कहते हैं, वहाँ अधिकांश असभ्य जातियाँ ही रहती थीं। जब अमरीका की अनन्त धनराशि की चर्चा समस्त यूरोप में फैल गयी, तब वहाँ के निवासियों की स्वाभाविक धन-पिपासा ऐसी बढ़ी कि उस बाढ़ में मनुष्यत्व के सभी उच्च आदर्श, उच्च नियम बह गये। अमरीका में यूरोपीय फैलाव की कथा, कपटी, निष्ठुर और पैशाचिक अत्याचारों से ओतप्रोत है। किन्तु इस लेख के मूल विषय से उसका अवश्य सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तो केवल यही दिखाना है कि १८वीं शताब्दी में अमरीका की क्या स्थिति थी।

सोलहवीं शताब्दी स्पेन और पुर्तगाल के प्रभाव-विस्तार और अत्याचारों की शताब्दी थी । सत्रहवीं शताब्दी में इङ्गलैंड, फ्रांस और हालैंड भी इस लूट-खसोट में भाग लेने के लिए आ जुटे । इन दो सदियों के भीतर ही आदि-निवासियों का काम तमाम हो गया । यूरोप का प्रत्येक राष्ट्र, अमरीका में अपना-अपना उपनिवेश स्थापित करने में लग गया । इङ्गलैंड को छोड़ कर और सभी राष्ट्रों ने, जैसे स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, स्वीडन—इस काम को राष्ट्र के अधीन रक्खा । इङ्गलैंड की विशेषता थी कि उसने इस बड़े काम को व्यक्तियों पर ही छोड़ दिया । इसलिए भिन्न-भिन्न श्रेणी के उपनिवेश बस गये—(१) अनुज्ञामूलक उपनिवेश (Chartered Colonies), (२) संमूखलक उपनिवेश (Corporate Colonies), (३) मिलकियती उपनिवेश (Proprietary Colonies) । अनुज्ञामूलक उपनिवेश वे थे, जिनके बसाने के लिए इङ्गलैंड का राजा अनुज्ञा-पत्र (Charter) जारी करता था । यह अनुज्ञा-पत्र, व्यक्तिविशेष को, अथवा व्यक्तियों के समूह को दिया जाता था । इस अनुज्ञा-पत्र के अनुसार उस व्यक्ति अथवा व्याक्त-समूह को बताये हुए प्रदेश में बसने, औरों को बसाने, उनसे व्यापार करने और उन पर शासन करने का अधिकार प्राप्त था । उस प्रदेश की पृथ्वी का स्वत्व (ownership) भी उन्हीं को प्राप्त रहता था । इस श्रेणी के अनेक उपनिवेश थे जो आगे चलकर राष्ट्र (State) हो गये । संघमूलक उपनिवेश वे थे, जिन्हें किसी 'संघ' (Company) ने बसाया था । ऐसे 'संघ' हिस्सों के आधार पर बनते थे । जिसकी भी इच्छा होती, 'संघ' का हिस्सा खरीद सकता था; और 'संघ' के उपनिवेशों से जो आय होती, वह हिस्सेदारों में बाँट दी जाती थी । उपनिवेशों के शासन के लिए सब हिस्सेदार मिलकर एक समिति चुनते थे, जिसे 'जेनरल कोर्ट' अथवा 'क्वार्टर कोर्ट' कहा जाता था । यह समिति एक महामात्र (Governor) अथवा कोषाध्यक्ष (Treasurer) चुनती थी, जो उस उपनिवेश का प्रधान कर्मचारी होता था । प्रधान की सहायता के लिए एक उपसमिति (Council or Board of Assistants) भी चुनी

जाती थी। तीसरी श्रेणी के उपनिवेश वे थे जिन्हें राजा किसी व्यक्ति को मिलकियत के रूप में देता था। ऐसे उपनिवेशों के स्वत्व और शासन, दोनों ही उसी व्यक्ति में केन्द्रित रहते थे। अनेक आज़ापात्रों में यह स्पष्ट आदेश रहता था कि राष्ट्रीय सभाएँ अवश्य स्थापित की जाएँ। इसी कारण धीरे-धीरे मिलकियती उपनिवेशों में ऐसी प्रथा हो गयी कि वहाँ राष्ट्रीय सभाएँ अवश्य बनायी जातीं और राष्ट्र चलाने के बड़े-बड़े विधान बनते। ऐसे उपनिवेशों में गवर्नर तो निश्चय रहता था, किन्तु वह मालिक का प्रतिनिधि ही होता था। प्रत्येक मालिक अपनी कौंसिल की अनुमति लेने के लिए बाध्य था। अनेक उपनिवेशों में कौंसिल के साथ-साथ जनता के प्रतिनिधियों की एक सभा (Chamber of Deputies) भी रहती थी, किन्तु कौंसिल उस सभा के अधीन नहीं रहती थी। इसका फल यह होता था कि कौंसिल गवर्नर के प्रभाव से प्रभावित तो अवश्य होती थी, किन्तु सभा और जनता के दबाव से वह मुक्त रहती थी।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के यूरोप के राष्ट्रों की दृष्टि में अमरीका एक ऐसा लावारिस देश था, जहाँ अपनी प्रजा को बसाने का उन्हें स्वयंसिद्ध अधिकार था। उपनिवेशों की स्थापना स्वभावतः पहले समुद्री प्रदेशों में ही हुई। १८वीं शताब्दी के सप्तवाषिक युद्ध के अन्त होने तक, किसी राष्ट्र ने मसिसिपी आदि भीतरी प्रदेशों की ओर उपनिवेशों को बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया था और उन प्रदेशों में उस समय तक आदि-निवासियों का ही बोल-बाला था। इसलिए जिस समय की बात लिखी जा रही है उस समय उत्तर में कनाडा के फ्रांसिसी उपनिवेशों से लेकर युनाइटेड स्टेट्स के दक्षिणतम कोने में छोटे-बड़े एक में एक सटे समुद्र के किनारे ही सब उपनिवेश बसे थे।

ऊपर कहा गया है कि यूरोप के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों ने अमरीका पर अधिकार करने और वहाँ उपनिवेशों को स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसका फल यह हुआ कि उत्तरी अमरीका में भिन्न-भिन्न देश और जाति के लोग आ बसे। जब से इङ्ग्लैंड ने सोलहवीं शताब्दी में स्पेन के

आरमेडा का नाश किया था, तब से ही उसकी नाविक शक्ति बढ़ रही थी। सत्रहवीं शताब्दी में स्टुअर्ट वंश के राजाओं के अत्याचारों से उब कर वहाँ के निवासी यथेष्ट संख्या में, इङ्गलैंड छोड़ अमरीका में बसने लगे। इस रीति से, लोभ को प्रेरणा धर्म-संकट से मिश्रित होकर, इङ्गलैंड के लोगों की संख्या वहाँ बराबर बढ़ती ही गयी और थोड़े ही दिनों में अन्य देशवालों से उनकी संख्या बहुत बढ़ गयी। केवल कनाडा में फ्रांसीसियों की प्रधानता थी। यह असम्भव था कि वे अंगरेज अपनी जाति का स्वतन्त्रता-प्रेम और इङ्गलैंड के शासन-विधान की इच्छा अपने साथ वहाँ न ले जाते। इससे उनके सभी उपनिवेश स्वराज्य की ओर प्रगतिशील हुए; किन्तु इङ्गलैंड के शासक बार-बार बाधक बनते रहे। जब सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में जेम्स द्वितीय राजा था, उसने उपनिवेशों की सभाओं को तोड़ देने की आज्ञा दी थी। उपनिवेशों का संगठन भी वर्जित कर दिया गया। उसी के समय में राजकीय प्रान्त भी स्थापित हुए। इस रीति से इङ्गलैंड अपने प्रभुत्व को बढ़ाने का प्रयत्न करता रहा। जब राष्ट्र के लिए रुपये की आवश्यकता होती तब राजा का 'आवेदन-पत्र' उपनिवेश के गवर्नर के पास भेजा जाता था और वह स्थानीय कौंसिल और सभा में उसे स्वीकृत करा देता था। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दो बड़े युद्ध हुए। पहले युद्ध में अंगरेजों ने स्पेन की शक्ति खण्डित कर दी; दूसरे में फ्रांस हारा, और इङ्गलैंड ने उसे भारत और अमरीका से निकाल बाहर किया। कनाडा उसके हस्तगत हो गया। पहली ही लड़ाई में इङ्गलैंड के शासकों को प्रत्यक्ष हो गया कि उपनिवेशों में फौज की संख्या बढ़ाना और वहाँ के व्यापार पर ऐसे नियन्त्रणों का लगाना आवश्यक था जिससे इङ्गलैंड का अधिकार सुस्थिर रहे और वहाँ का व्यापार उसी के हाथ में रहे। अधिक फौज के लिए अधिक रुपये की आवश्यकता थी। इसलिए ब्रिटिश पार्लमेंट ने १७३३ ई० में एक 'छोआ कानून' पास किया। इस कानून के अनुसार विदेशी उपनिवेशों में छोआ से बने खाद्य-पदार्थों पर, जैसे रम (शराब) आदि

पर बहुत अधिक कर लगा दिया गया। इसके लागू करने के प्रयत्नों से उपनिवेशों में असन्तोष बढ़ने लगा।

सप्तवार्षिक युद्ध के समाप्त होने के बाद १७६४ ई० में ब्रिटिश पार्लमेंट ने एक नया विधान चीनी-कानून बनाया। इसके अनुसार शत्रु-देशों के साथ उपनिवेशों का चीनी का व्यापार बन्द कर दिया गया। दबा हुआ असन्तोष फिर से उग्ररूप में भड़क उठा। इस पर कुछ भी ध्यान न देकर, १७६५ में पार्लमेंट ने एक स्टाम्प ऐक्ट भी पास कर दिया। इस कानून के पास करने का मुख्य कारण यह था कि उस समय अंगरेजी फौज पर तीन लाख पौंड खर्च हो रहे थे और अंगरेजी सरकार की इच्छा थी कि इस कानून से खर्च की सब रकम वसूल हो जाय। किन्तु उपनिवेशों ने इसे स्वीकार नहीं किया और वहाँ की अदालतें बिना स्टाम्प के ही अपना काम करती रहीं। इस तरह इस कानून से भी कुछ रुपये नहीं मिले। इसके उपरान्त १७६७ ई० में उपनिवेशों के पास सहायता के लिए आज्ञापत्र भेजे गये, किन्तु इसका भी कोई सन्तोष-जनक फल नहीं हुआ। इन सभी कामों से असन्तोष की आग प्रतिदिन अधिकाधिक भड़कती ही गयी। चीनी कानून से पैसा तो कुछ न मिला, और स्टाम्प ऐक्ट के लागू करने के प्रयत्न में जो विशेष काण्ड हो गये उन पर आगे प्रकाश डाला जायगा। उपनिवेशों का विरोध इस सिद्धान्त पर अवलम्बित था कि कर लगाने का अधिकार केवल उनकी सभाओं को था, न कि इङ्गलैंड की पार्लमेंट को। उनकी यह भी माँग थी कि अपराधों का निर्णय जूरी की सहायता से होना चाहिए।

जब अंगरेजी सरकार ने देखा कि स्टाम्प ऐक्ट से एक ओर तो असन्तोष बढ़ा और दूसरी ओर उसका कर वसूल भी नहीं होता, तब उसने १७६६ में उसे रद्द कर दिया। किन्तु ब्रिटिश पार्लमेंट ने घोषणा-कानून पास किया जिसमें यह स्पष्ट कर दिया गया कि पार्लमेंट के पास किये सभी कानून उपनिवेशों पर लागू होंगे। १७६७ ई० में दो नये कानून—म्युटिनी ऐक्ट और टाउनशेंड ऐक्ट भी पास किये गये। ब्रिटिश

सरकार तुली हुई थी। इन दो कानूनों में कुछ अधिक विशेषता तो नहीं थी, फिर भी न्यूयार्क की सभा ने इन्हें पहले अस्वीकार कर दिया। पीछे वहाँ के गवर्नर के प्रयत्न से ये सभी कानून स्वीकृत हो गये। उस समय टाउनशेंड साहब ब्रिटिश अर्थमन्त्री थे और अपना कोष भरने के लिए ही उन्होंने इन कानूनों को पास कराया था। किन्तु इन कानूनों से भी बहुत कम रुपये वसूल हुए। इससे सरकार ने टाउनशेंड के नाम वाले कानूनों को भी रद्द करा दिया और केवल चाय पर का टैक्स ज्यों-का-त्यों बना रहा। पीछे एक अलग चाय-कानून जारी किया गया, जिससे ईस्टइण्डिया कम्पनी को यह अधिकार मिला कि वह उपनिवेशों के लिए चाय लावे और अंगरेजी कर चाय लादने के समय ही चुका दे। इसी कानून के लागू कराने के प्रयत्न से ही स्वातन्त्र्य युद्ध का प्रारम्भ हुआ। एक और कानून का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है; क्योंकि असन्तोष को दृढ़ करने में उसका भी पूरा प्रभाव पड़ा। कहा जा चुका है कि कनाडा में फ्रांसीसियों की अधिकता थी। फ्रांसीसी अधिकतर रोमन कैथोलिक धर्मावलम्बी थे। अंगरेजी उपनिवेशों में प्रोटेस्टेंटों की अधिकता थी। उस समय सभी उपनिवेश समुद्र के तट पर ही स्थित थे और अमरीका के पश्चिमी भागों के लिए अभी कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। १७७४ में क्वेबेक (Quebec) ऐक्ट पास करके अंगरेजी सरकार ने पश्चिमी प्रदेशों की देख-रेख क्वेबेक-प्रान्त के अधीन कर दी। फलस्वरूप अंगरेजी उपनिवेशों में असन्तोष और भी बढ़ा।

जिस समय स्टाम्प ऐक्ट पास हुआ था, उसी समय सब अंगरेजी उपनिवेशों की एक सम्मिलित कांग्रेस एकत्र करने की बात चली थी। किन्तु, १७६६ में उस कानून के हटा लेने से कांग्रेस की बात स्थगित रह गयी। सन् १७६८ में अंगरेजी सरकार ने एक स्लूप (Sloop-छोटी सैनिक नाव) को अपने काम के लिए पकड़ा। इस बात पर मैसाचुसेट्स (Massachusetts) प्रान्त में भयंकर बलवा हो गया। इस पर अंगरेजी सरकार ने मैसाचुसेट्स की सभा को तोड़ दिया, किन्तु मैसाचुसेट्स-

निवासियों ने प्रतिनिधियों (Deputies) का चुनाव किया ही। इस विषय को लेकर सभी उपनिवेशों पर आन्दोलन होने लगा। सभाएँ और समितियाँ विचार करने लगीं कि क्या किया जाय। अन्त में अधिकांश सभाओं ने इङ्गलैंड के राजा और पार्लमेंट के पास आवेदन-पत्र भेजने का निश्चय किया और आवेदन-पत्र भेजे भी गये। इङ्गलैंड पर इन आवेदन-पत्रों का उलटा ही प्रभाव पड़ा। राजा और मन्त्रिमण्डल की दृष्टि में अमरीका की प्रजा राजद्रोह कर रही थी। इसलिए राजा हेनरी अष्टम के राज्यकाल का ३५वाँ कानून अमरीका में लागू करने की आज्ञा दी गयी। इस कानून के लागू होने से अमरीका का कोई भी मनुष्य पकड़कर इङ्गलैंड लाया जा सकता था जिसमें कि उसके विरुद्ध लगाये गये अभियोग का वहाँ की अदालतों में निर्णय हो सके। इसका अभिप्राय यही था कि अमरीका के नेताओं को पकड़-पकड़कर इङ्गलैंड भेजा जाय। इस कानून के समाचार पर आन्दोलन की आग और भड़की। लगभग इसी समय बोस्टन में सिपाहियों और जनता में संघर्ष हो गया। सरकार ने बुद्धिमानी से काम लेकर सिपाहियों को हटा दिया ; किन्तु इससे शान्ति नहीं हुई।

ऊपर कहा जा चुका है कि अङ्गरेजी सरकार ने उपनिवेशों और शत्रु-देशों में होनेवाले व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाया था। इस काम पर सैनिक जहाज नियुक्त किये गये थे। स्कूजर (सैनिक जहाज) 'गुस्पी' इसी काम पर नियुक्त था। गैरकानूनी व्यापारियों का दमन करने के प्रयत्न में यह जहाज नष्ट हो गया। इस विषय की जाँच की आज्ञा हुई। इस जाँच में यदि कोई पकड़ा जाता तो वह इङ्गलैंड भेजा जाता। इस भय के कारण सभी उपनिवेशों ने लिखा-पढ़ी करनेवाली एक उपसमिति बनायी। इन उपसमितियों के कारण सब उपनिवेशों का सङ्गठन दृढ़तर हो गया। ऐसी अशान्ति के समय में ही वह नया चार कानून बना, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। जब इस कानून के अनुसार इस्टइण्डिया कम्पनी ने १६ दिसम्बर, १७७३ को चाय बोस्टन में उतारी तो ३४० गाँठें

नष्ट-भ्रष्ट कर दी गयीं। इसका फल यह हुआ कि सरकारी आज्ञा से बोस्टन का बन्दरगाह बन्द कर दिया गया, मिस्टर गेज वहाँ के गवर्नर नियुक्त हुए और उन्हें आदेश दिय गया कि आवश्यकता होने पर बल प्रयोग करके कानूनों का पालन कराया जाय। साथ-ही-साथ बोस्टन की कौंसिल के चुनाव का नियम रद्द कर दिया गया और उसके सदस्यों की बहाली गवर्नर की रुचि पर छोड़ दी गयी। इसका प्रभाव सर्वव्यापक हुआ। प्रत्येक उपनिवेश में स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाएँ बैठीं। एक-एक प्रान्तीय सभा भी बुलायी गयी। इस महाद्वीप के सभी उपनिवेशों की एक सम्मिलित कांग्रेस बुलाने का भी निश्चय हुआ। इस निश्चय के अनुसार सन् १७७४ में कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ। इस कांग्रेस का पहला काम यह हुआ कि अँगरेजी सरकार के न्याय-विरुद्ध कामों के विरोध में आवेदन-पत्र लिखे गये और उनकी प्रतियाँ राजा और पार्लमेंट के पास भेजी गयीं, और उपनिवेशों तथा इङ्ग्लैंड की जनता में भी बाँटी गयीं। कांग्रेस का दूसरा काम यह हुआ कि उसने जनता के अधिकारों की एक सूची बनायी और उसे घोषणा-पत्र का रूप दे दिया। किन्तु, सबसे महत्त्वपूर्ण काम हुआ एक व्यापारी-संघ की स्थापना। मैसाचुसेट्स में कांग्रेस का प्रान्तीय अधिवेशन हुआ। इसने उस प्रान्त का शासन अपने अधीन कर लिया।

सन् १७७३ से ही दोनों पक्षों में यह धारणा बँध रही थी कि युद्ध होकर ही रहेगा। प्रत्येक प्रान्त, जो इस आन्दोलन के साथ था, अस्त्र-शस्त्र इकट्ठा करने लगा। सभी जगह की प्रान्तीय रक्षावाहिनी सजग कर दी गयी। अँगरेजी सरकार को सूचना मिली कि मैसाचुसेट्स के कोंकोर्ड, (Concord) नगर में युद्ध की सामग्री एकत्र की गयी है। विपत्ती की इस सामग्री को नष्ट करना आवश्यक था, क्योंकि अँगरेजी सरकार भी मुठभेड़ के लिए तैयार हो रही थी। इस काम के लिए सैनिकों की एक टोली नियुक्त की गयी। इस टोली से विद्रोहियों का संघर्ष लेक्सिङ्गटन में १७७४ ई० में हुआ और यद्यपि विद्रोही हारे, कोई सामग्री हाथ न लगी।

अब शीघ्रता से रक्षावाहिनी तैयार की गयी। बोस्टन नगर घेर लिया गया। राजद्रोहियों ने ट्रिकोण्डरोगा (Triconderoga) पर अधिकार कर लिया। तब १६ जून, १७७५ को बैंकर्स हिल (Banker's Hill) की विख्यात लड़ाई हुई। यद्यपि अंगरेजों की सेना सभी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और रणकुशल थी, उसे विजय आसानी से प्राप्त नहीं हुई। राजद्रोही हारे अवश्य, किन्तु सरकारी सेना इस योग्य न रही कि इससे यथेष्ट लाभ उठा सके। तब अङ्गरेजी सरकार ने विद्रोहियों के साथ व्यापार बन्द करने की आज्ञा जारी की।

राजद्रोहियों की रक्षावाहिनी कोई स्थायी सेना नहीं थी। उसके सैनिकों की जीविका युद्ध पर निर्भर नहीं थी। उसमें सभी श्रेणी के लोग लिये जाते थे, और उन्हें वर्ष में कतिपय दिनों अथवा महीनों के लिए ही इस काम में लगाया जा सकता था। शेष समय में वे अपने-अपने व्यवसाय में लगे रहते थे। सभी सैनिकों को अपना अस्त्र-शस्त्र, घोड़ा इत्यादि आप लाना पड़ता था। जितने दिन उनसे काम लिया जाता था, उतने दिन का हर्जाना भर दिया जाता था। इस रीति से वे एक प्रकार के स्वयंसेवक ही थे।

बैंकर्स हिल की लड़ाई के बाद, कांग्रेस का फिर अधिवेशन करना आवश्यक हो गया। इङ्गलैंड से युद्ध तो छिड़ गया, किन्तु उस युद्ध के सफल होने के लिए जिन बातों की आवश्यकता थी उन पर विचार तक नहीं हुआ था। युद्ध-विषयक कार्यों की कोई संघठित योजना नहीं बनायी गयी थी। रणसामग्री एवं द्रव्य एकत्र करना और विजय होने पर स्वतन्त्र हुए क्षेत्रों की शासन-व्यवस्था करना, ये बातें ऐसी थीं जिन पर विचार-विमर्ष आवश्यक था। इसलिए सब उपनिवेशों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस कांग्रेस ने शासन का अधिकार अपने अधीन कर लिया। जार्ज वाशिंगटन को विद्रोही सेना का प्रधान सेनापति बनाया गया। इस अधिवेशन में और अनेक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे।

यद्यपि सन् १७७५ और १७७६ की लड़ाइयों में विद्रोही दल हारता ही गया, अङ्गरेजी हुकूमत, मिलकियती उपनिवेशों को छोड़कर, सभी जगह नष्ट हो गयी। मिलकियती उपनिवेशों ने किसी ओर भाग नहीं लिया। वे अपनी सभाओं को चलाते गये और इस युद्ध के परिणाम की राह देखते रहे। सन् १७७६ की ४ जुलाई अमरीका के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी; क्योंकि इसी दिन कांग्रेस ने स्वतन्त्रता का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किया था। यह प्रस्ताव पहली बार ७ जून, १७७६ की बैठक में उपस्थित किया गया था। प्रस्ताव यों था—“That these United colonies are, and of right ought to be free and independent States” (ये संयुक्त उपनिवेश स्वतन्त्र और स्वाधीन राष्ट्र हैं और इन्हें ऐसा रहने का अधिकार है।)

ऊपर कहा गया है कि १७७५ और १७७६ के युद्धों में विद्रोही बराबर हारते ही गये। इसका मुख्य कारण शिक्षित सेना का अभाव था। अङ्गरेज लेखकों की दृष्टि में इसका दूसरा कारण वाशिंगटन का दोषपूर्ण सेनापतित्व भी था। बात चाहे जो भी हो, पर इतिहास इस बात का साक्षी है कि वाशिंगटन ने, यथेष्ट साधन न रहते हुए भी, अङ्गरेजों के दाँत खट्टे कर दिये थे। १७७५ और १७७६ में वाशिंगटन ने बड़े परिश्रम से एक सुशिक्षित-सुसज्जित सेना तैयार कर ली। कांग्रेस के पास द्रव्य का अभाव था। उसमें कर लगाने की शक्ति अभी थी नहीं। इसलिए हुण्डियाँ जारी की जाती थीं। कांग्रेस की जिम्मेदारियाँ तो बहुत बढ़ गयीं, किन्तु उसकी नीति और आदेशों का पालन तो उपनिवेशों की नयी सरकारों पर ही निर्भर करता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वह पहला उत्साह ठंडा पड़ता गया और सम्मिलित राष्ट्रों का सहयोग प्राप्त करना कठिन होता गया। आत्मसमर्पण की मात्रा कम होती गयी। धीरे-धीरे उनमें केन्द्र की ईर्ष्या भी घर करने लगी।

कांग्रेस ने निश्चय किया कि रुपये की सहायता फ्रांस, स्पेन और हालैंड से माँगी जाय, क्योंकि तीस वर्ष और सात वर्ष की लड़ाइयों में

सभी इङ्गलैंड से हारे थे, और सबके उपनिवेशों को इङ्गलैंड ने छीन लिया था। इङ्गलैंड ने फ्रांस को हिन्दुस्थान और अमरीका से निकाल बाहर किया था। इसमें फ्रांस में इङ्गलैंड के विरुद्ध काफी द्वेष भरा था। सब कुछ था, परन्तु साम्राज्यलोलुप-देश इङ्गलैंड के राजद्रोही उपनिवेशों की कैसे सहायता करते ? जब कांग्रेस का प्रस्ताव इन देशों को मिला तब वे बगलें भाँकने लगे और कुछ दिनों तक बस उत्साह-भरी बातों और आश्वासनों से ही सहायता करते रहे। हाँ, हालैंड के कुछ बड़े बैंकों ने कर्ज दिया था।

यहीं पर कांग्रेस के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख करना उचित होगा। कांग्रेस ने प्रत्येक उपनिवेश को आज्ञा दी कि वह अपने-अपने राष्ट्रों के संचालन का विधान बनाये। इसके अनुसार विधान बनने लगे और सन् १७७६ के प्रथम भाग में ही बनकर चालू हो गये। कांग्रेस ने स्वयं संयुक्तराष्ट्र का विधान बनाना प्रारम्भ किया। जीन डिकिन्सन ने १७७६ के ग्रीष्म-काल में ही इसे भी लिख कर उपस्थित कर दिया।

वाशिंगटन की प्रारम्भिक युद्ध-नीति यह थी कि उनकी नवशिक्षित सेना में आत्म-विश्वास और आत्म-बल की वृद्धि हो। वह स्पष्ट देख रहे थे कि यह युद्ध शीघ्र समाप्त होनेवाला नहीं था। जितना ही अधिक समय उन्हें मिले, उतना ही उनके पक्ष के लिए और अन्तिम विजय के लिए अच्छा था। यह भी स्पष्ट था कि यदि अंगरेज शीघ्रता से दमन नहीं कर सके, तो वाशिंगटन को अजेय शक्तियाँ एकत्रित करने का सुअवसर मिल जायगा। इसलिए १७७५-७६ ई० में वाशिंगटन न तो पूर्णतया स्वरक्षा-नीति पर डटे रहे, और न केवल आक्रमण-नीति पर ही चले। जब कभी उन्हें सुअवसर मिलता, शत्रुओं पर आक्रमण कर देते, और हार जाने पर भी उस आक्रमण को निष्फल नहीं समझते। १७७७ ई० में अंगरेजों ने बर्गीयन (Burgoyne) नामक सेनापति को प्रधान-सेनापति बनाया

और वह बड़ी सेना लेकर वाशिंगटन की खोज में निकला। अनेक प्रान्तों पर अधिकार करता वह साराटोगा (Saratoga) के पास पहुँचा। वाशिंगटन की सेना अब १७७५-७६ ई० की सेना न थी। अब वह काफी शिक्षित और रणकुशल बन गयी थी। वाशिंगटन ने अपनी शक्ति की जाँच का समय आया जानकर साराटोगा के पास ही आक्रमण करने का निश्चय किया। इस रीति से १७ अक्टूबर, १७७७ ई० को वहाँ की विख्यात लड़ाई हुई। बर्गीयन हारकर अपनी सेना के साथ फौलादी घेरे में घिर गया और किसी तरह बच न सका। निरुपाय हो उसे अपनी बची-खुची सेना के साथ वाशिंगटन के सामने हथियार डाल देना पड़ा।

इस विजय का बड़ा गम्भीर और व्यापक प्रभाव हुआ। अमरीका की जनता में जो एक तरह की निराशा और शिथिलता आने लगी थी वह जाती रही और लोग फिर द्विगुणित उत्साह से भर गये। कांग्रेस में लोगों की श्रद्धा बढ़ी, और वाशिंगटन में लोगों का विश्वास और प्रेम लहलहा उठे। विदेशों में इस समाचार ने ससननी पैदा कर दी। पहले तो यह बात अनहोनी-सी प्रतीत होती थी, किन्तु जब इसकी सत्यता में सन्देह नहीं रह गया, तब फ्रांस आदि देश अपनी नीति बदलने के लिए तैयार हुए। जहाँ अभी तक वे केवल वचनों की सहायता दिया करते थे, अब वे रुपये और सेना से सहायता देने के लिए राजी हो गये। ६ फरवरी, १७७८ को फ्रांस और संयुक्त राष्ट्रों के बीच एक समझौता हुआ, जिसमें फ्रांस ने सहायता का वचन दिया। स्पेन ने भी इसी तरह का समझौता अप्रैल, १७७६ में किया। फ्रांस ने लाफायेट के सेनापतित्व में एक सेना कतिपय जहाजों के साथ सहायता के लिए भेजी। कांग्रेस को धन का अभाव भी अब न रहा, क्योंकि इन देशों से धन भी मिलने लगा था। बिद्रोही सेना दिन-दिन शक्तिसम्पन्न होती गयी और कांग्रेस का शासन दृढ़ होता गया।

युद्ध तो १७८१ ई० तक चलता रहा। यह बात नहीं थी कि इस बीच में जितनी लड़ाइयाँ हुईं उनमें वाशिंगटन ही जीतते गये; किन्तु साराडोगा में वाशिंगटन ने जिस महत्त्व की विजय प्राप्त की थी, वैसी महत्त्वपूर्ण विजय अंगरेजों की एक भी न रही। अंगरेजों ने अन्तिम बार लार्ड कार्नवालिस के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी। कार्नवालिस ने लाख कोशिश की और एक-आध लड़ाइयों में वह जीता भी; परन्तु अन्त में उसे मुँह की खानी पड़ी। उसने समस्त सेना के साथ अपने हथियार डाल दिये और कांग्रेस का बन्दी हो गया। यह १० अक्टूबर, १७८१ ई० की बात है। इस हार के बाद अंगरेजों में और लड़ने की हिम्मत न रही। यद्यपि सन्धि की बातें इस लड़ाई के बाद ही चलने लगीं, स्थायी शान्ति और सन्धिसम्पन्न होने में दो वर्ष लग गये। सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर ३ सितम्बर, १७८३ ई० को हुए थे।

[अगस्त, १४४७]

सत्यम्

जब यहूशालम के रोमन गवर्नर पाइलेट (Pilate) के सामने 'सत्य' का प्रश्न उठा, तब वह तिरस्कार भरी मुस्कान के साथ बोला, 'सत्य क्या है ?' और चलता हुआ । यह कथा जिस रूप में हमारे सामने आयी है, वह अनोखा-सा प्रतीत होता है, किन्तु विचार करने से मालूम होगा कि साधारण मानव-जीवन में इस प्रकार की घटनाएँ आये दिन हुआ करती हैं । 'सत्य' की बात तो सभी चलाते हैं, किन्तु 'सत्य' क्या है, यह जानने का प्रयत्न इने-गिने ही मनुष्य करते हैं । कहा तो अवश्य जाता है कि मानव-हृदय सत्य का प्रेमी है, किन्तु जब हम सांसारिक जीवन का अध्ययन करते हैं, तो आश्चर्य के साथ पाते हैं कि उनका दिगन्त प्रचारित सत्य का प्रेम एक विडम्बना, एक ढकोसला है ; और यद्यपि वह 'सत्य'- 'सत्य' चिल्लाता है, परन्तु उसकी लगन असत्य में ही है और वह अपने सांसारिक जीवन को असत्य के ही सहारे व्यतीत करता है । विचारवानों के सामने ये विरोधी बातें एक पहेली-सी खड़ी कर देती हैं—यदि असत्य ही जीवन की नौका होने योग्य है, तब सत्य की आड़ की क्या आवश्यकता है ? मानव-समाज सत्य का स्पष्ट रूप से निराकरण ही क्यों नहीं कर देता ?

इन प्रश्नों के उठाने के कारण, हम 'सत्यम्' के अर्थ और भाव का, सभी दृष्टिकोणों से, अध्ययन करने पर बाध्य हो जाते हैं । यह स्पष्ट है कि 'सत्यम्' का व्यवहार जीवन के सभी क्षेत्रों में होता है ; सामाजिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक और प्रत्येक क्षेत्र 'सत्यम्' की परिभाषा और महत्ता

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से और विशिष्ट शब्दों में देता है। इससे यह आवश्यक है कि पहले हम 'सत्यम्' के यौगिक (Etymological) अर्थ को जान लें। शब्द-कल्पद्रुम ने इसकी व्याख्या की है—'सतेहितम्। सत्+यत्।' इस तरह 'सत्यम्' का अर्थ हुआ, वह जो या तो सत् में अधिष्ठित है अथवा उसका पोषक है। सत् का अर्थ भगवद्गीता में विस्तार से दिया गया है—

ओं तत् सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सत्सुब्दः पार्थ युज्यते ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थाय सदित्येवाभिधीयते ॥

(ओं तत् सत्, ये ब्राह्मण के तीन प्रकार के निर्देशन हैं। इन्हीं से ब्राह्मण, वेद और यज्ञ विहित (निर्मित) हुए। अस्तित्व और साधुभाव प्रकट करने के लिए भी 'सत्' का व्यवहार किया जाता है, प्रशस्त कर्मों में भी 'सत्' का व्यवहार उपयुक्त है। यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति होती है, वह 'सत्' कही जाती है और उनके लिए किये हुए कर्म भी 'सत्' कहे जाते हैं।)

इस प्रकार 'सत्' के अर्थ अनेक हैं; किन्तु विचार करने पर स्पष्ट होगा कि सभी अर्थों के अन्तःस्तर में अस्तित्व का भाव विद्यमान है। कहा भी गया है, 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।' ('असत्' का 'भाव'—अस्तित्व—नहीं होता, न 'सत्' का अभाव ही होता है)। इस तरह, अस्तित्व उसी का है, जो सभी काल और सभी देश में नित्य होकर बना रहता है, जिसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक स्वरूप, अथवा अमुक स्थान पर था, किन्तु अब न रहा अथवा वह परिवर्तित हो गया। इस दृष्टिकोण से 'सत्यम्' वह है जो अस्तित्व में अधिष्ठित हो अथवा उसी का पोषक हो। अब

हम इस मूल अर्थ को लेकर आगे बढ़ सकते हैं और यह जानने का प्रयत्न कर सकते हैं कि सामाजिक, वैज्ञानिक और दार्शनिक क्षेत्रों में इसने कौन-सा रूप धारण किया।

जब साधारण मनुष्य किसी बात को 'सत्य' कहता है, तब उसके हृदय में यह भावना होती है कि वह बात किसी घटना अथवा किसी वस्तु के अस्तित्व के अनुरूप है। उदाहरणार्थ मान लिया जाय कि हमारे सामने किसी का बध हो जाता है और हमें उसका वर्णन करना पड़ता है। यदि हमारा वर्णन उस बध के अस्तित्व के यथार्थ रूप के अनुरूप हुआ, तो वह 'सत्य' कहा जायगा; यदि वह उसके प्रतिकूल हुआ, तो वह 'असत्य' कहा जायगा। परन्तु यह सबका अनुभव है कि यदि एक ही वस्तु या घटना का वर्णन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किया जाय, तो प्रत्येक वर्णन में कुछ-न-कुछ विशेषता, या विभिन्नता आ ही जाती है। यहाँ असत्यवादियों की बात नहीं कही जाती है, किन्तु ऐसे मनुष्यों की, जो जानकर असत्य नहीं बोलते। वर्णनों का मिलान करने पर पाया जाता है कि कोई द्रष्टा किसी बात पर जोर देता है; तो दूसरा द्रष्टा किसी दूसरी बात पर जोर देता है। कोई एक बात को भूल-सा जाता है, तो दूसरा दूसरी बात को। सारांश यह कि भिन्न-भिन्न द्रष्टा, भिन्न-भिन्न चित्र उपस्थित करता है; हम यह भी कह सकते हैं कि प्रत्येक का चित्र एक ही होते हुए भी, भिन्न-भिन्न स्थानों पर ज्योति और छाया दरसाता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। सब मनुष्यों की शक्तियाँ न तो समान होती हैं और न समान रूप से शिक्षित ही होती हैं और हमारी सभी अनुभूतियाँ इन्हीं शक्तियों पर निर्भर हैं। ऐसी ही बातें साहित्य और कला के विषय में कही जा सकती हैं, जहाँ प्रत्येक कवि और कलाकार 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' को अभिव्यक्ति अपनी पहुँच और अपने वैयक्तिक मानदण्ड के अनुसार ही करता है। इस तरह हम देखते हैं कि हमारा 'सत्य' का बोध हमारी इन्द्रियों के नियमों से नियमित रहता है और सबका बोध समान हो नहीं सकता।

उपयुक्त सिद्धान्त की पुष्टि हमारे दैनिक जीवन की अनुभूतियों से होती है। ऊपर दी हुई परिभाषा के अनुसार 'सत्य' को तो एक ही होना चाहिए, किन्तु जब 'सत्य' सामाजिक क्षेत्र में उतारा जाता है, तो वह बहुमुखी हो जाता है। हम देखते हैं कि जब दो पक्षों में किसी बात पर झगड़ा हो जाता है, तब चाहे व्यक्ति, संघ या जाति ही क्यों न हो, प्रत्येक पक्ष 'सत्य' की दुहाई देने लगता है और अपने पक्ष को 'सत्य' और अपर पक्ष को 'भूठ' बताता है; और तब अदालतों और जजों की आवश्यकता होती है। इस बात से हम दो अनुमानों पर पहुँचते हैं—एक तो यह कि मनुष्यों में सत्य की भावना काम, क्रोध, लोभादि से सदा कलुषित होती रहती है; और दूसरा यह कि मानव-हृदय में 'सत्य' का सहज आदर विद्यमान है और वह अपने कर्मों की सफाई के लिए 'सत्य' की सहायता आवश्यक समझता है। रामायण के युद्ध से लेकर गत दो महायुद्धों तक देखा गया है कि प्रत्येक युद्ध में दोनों ही पक्ष अपने को सत्य का प्रेमी, सत्य का सिपाही और सत्य का राज्य स्थापित करनेवाला और अपर पक्ष को असत्यवादी और राजसी व्यवहारवाला बताता आया है। सभ्यता और विज्ञान के शिखर पर पहुँची हुई जर्मन जाति को 'हूण' की उपाधि पाते सबने देखा है। यह भी देखा गया कि दोनों ही पक्षों ने लोकमत को अपनी ओर फेरने के लिए अपनी सत्य-प्रियता और साधुता का प्रचार बड़े-बड़े उपायों से किया; और लोकमत ने उमी पक्ष का साथ दिया जिसके आचरण में सत्य प्रतिष्ठित प्रतीत हुआ। लोकमत की सत्यनिष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण महात्मा गांधी के जीवन की घटनाओं में पाया जाता है। यह मानी हुई बात है कि भारतीयों का वर्तमान जीवन सभी उच्च आदर्शों से बहुत नीचे गिर गया है, और हम सर्वसाधारण के दैनिक जीवन में प्रायः सत्य की अवहेलना ही पाते हैं; तथापि जब महात्माजी ने सत्य का झण्डा ऊपर उठाया, तब मृतप्राय भारतीय जीवन में गगनचुम्बी ढेब उठने लगे, प्रशान्त सागर में खलबली-सी मच गयी और हृदय-तलों में निगूढ़ सत्य का प्रेम आशातीत ओज से

प्रकट हो आया। यह बात केवल भारतवर्ष में ही नहीं देखी गयी; पृथ्वी भर के मनुष्यों ने, सत्य और अहिंसा के पुजारी के रूप में गांधीजी का आदर करके अपनी सत्यप्रियता प्रकाशित की। यह सब होते हुए भी कहना ही पड़ता है कि यह आदर-सम्मान गांधीजी के व्यक्तित्व का था, न कि 'सत्य' का; सत्य के सच्चे प्रेमी तो इने-गिने ही निकले और अब वे संसार से क्या आदर पाते हैं और संसार के जीवन पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है, यह देखकर किसी भी सत्य के प्रेमी को सन्तोष नहीं हो सकता।

गांधीजी की सत्यनिष्ठा संसार के लिए कोई अपूर्व बात न थी। सभी धर्म-शिद्दकों ने सत्य को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया था; सभी ऋषि, महर्षि, ज्ञानी, दार्शनिक और विचारवान, सभी कालों और देशों में, सत्य की महिमा गाते रहे हैं; और भारतीय साहित्य तो मानों सत्य का अपना क्षेत्र ही है। वेदों की वाणी तो 'सत्यम्' और 'ऋतम्' के आधार पर ही खड़ी है और यहाँ तक कहा गया है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। वैदिक समाज में सत्य की कितनी महत्ता थी, यह इसीसे स्पष्ट होता है कि जब छात्रों का विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त हो जाता था, और गुरु अपना अन्तिम उपदेश देकर उन्हें अपने घर के लिए भेज देता था, तब उसका पहला आदेश होता था—'सत्यं वद' (तैत्तिरीय उपनिषद्)। सत्य के बाद ही धर्म का स्थान आता है, और गुरु कहता है, 'धर्मम् चर'। इसका कारण भी स्पष्ट है। जो बुद्धि सत् में स्थित नहीं हुई, वह धर्म क्या कर सकती है? सत्य का महत्त्व सामाजिक दृष्टि से, जीवन-यात्रा को शान्तिमय और सुखमय बनाने के उद्देश्य से भी, बहुत बड़ा है। समाज तो मनुष्यों की एक नैसर्गिक माँग को पूरा करने का एक साधन मात्र है; और यह बनता है उनके संघटित होने से ही। संघटन परस्पर विश्वास से ही सम्भव होता है। परस्पर विश्वास ही समाज की नींव कहा जा सकता है। मैत्री, सहयोग, सहानुभूति आदि उच्च गुणों की इमारतें परस्पर विश्वास के आधार पर ही खड़ी की

जा सकती हैं। यदि हम क्षण भर के लिए मान लें कि कोई ऐसा समाज है जहाँ सत्य का आदर नहीं होता, न कोई सत्य बोलता है न सत्य के अनुकूल आचरण ही करता है, तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि ऐसा समाज अधिक दिनों तक 'समाज' नहीं रह सकता; वह केवल एक दूसरे को ठगने पर तुले हुए मनुष्यों का समूह होगा, जहाँ न तो व्यापार, न शासन, न विद्या, न कला को ही कोई स्थान मिल सकता। ये सभी उच्च सभ्यता के अंग हैं और जब तक एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की बातों या आचरणों पर विश्वास नहीं कर सकता, तब तक इनमें से किसी का उद्भव ही नहीं हो सकता।

सत्य और भूठ, मानव-जीवन के ही अंग हैं। पाशविक जीवन में सत्य और भूठ के लिए स्थान ही नहीं है, क्योंकि पशुओं में विवेक नहीं होता। जो 'मनुष्य-रूपेण मृगा' ही रह गया है, वह पाशविक जीवन व्यतीत करने के लिए सदा स्वतन्त्र है। किन्तु, ऐसे मानव-पशुओं के लिए सभ्य मानव-समाज में स्थान नहीं मिल सकता; उन्हें वह समाज या तो छोड़ना पड़ेगा, अथवा उसका शत्रु बनकर उसे नष्ट करने का प्रयत्न करना पड़ेगा। सभ्यसमाज के ऐसे शत्रुओं के अनेक उदाहरण इतिहास के पन्नों में पाये जायँगे—रामायण का रावण, महाभारत के आततायी असुर और बैबिलन के लूट-खसोट करनेवाले राजा, गौथ (Goths), वैण्डल (Vandals) और हूण। तथापि ऐसे आततायियों ने भी अपने अशिद्धि और पाशविक समाज में भूठ को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया; इसके विपरीत उनका आपस का आचरण सत्य के अनुसार हुआ करता था।

वर्तमान संसार की स्थिति पर दृष्टि रखते हुए हम कह सकते हैं किसी भी जाति का जीवन भूठ से अस्पृष्ट नहीं है। कुछ विचारकों का तो सिद्धान्त है कि थोड़ा-बहुत भूठ जीवन में चटपटाहट लाता है, और मनुष्य-स्वभाव भी ऐसा बना है कि सत्य में कुछ भूठ का पुट दिये बिना उसे दृष्टि नहीं होती। इसके उदाहरण के लिए कविता, नाटक,

आख्यायिका, उपन्यास आदि बताये जाते हैं, जिनके बिना सभ्य जीवन ही असम्भव है। जीवन-निर्वाह के अनेक क्षेत्रों में तो भूठ आवश्यक ही समझा जाता है। बणिक् समाज तो बिना भूठ के अपना धन्धा ही नहीं चला सकता। गांधी जी के पहले, राजनीतिज्ञों में, भूठ बोलने और दूसरों को ठगने की चातुरी अत्यन्त आवश्यक गुण समझी जाती थी। इसी बात को कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में कण्व ऋषि के मुख से कहलाया है—

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यै—

स्तस्या प्रमाणं वचनं जनस्य ।

पराभिसन्धानमधीयते यै—

र्विधेति ते सन्तु किलाप्रवाचः ॥

(जिसने जन्म से ही शठता नहीं सीखी, उसके वचन का कोई प्रमाण (विश्वास) नहीं है, किन्तु जो दूसरों को ठगना विद्या के नाम से सीखते हैं, वे ही बड़े सत्यवादी हैं।)

वकालत भी एक ऐसा धन्धा है जिसमें भूठ आवश्यक समझा जाता है। कहा जाता है कि वकील तो मुवक्किल-रूप हो जाता है और वह उन सभी कामों को करने के लिए बाध्य है जो वह मुवक्किल, यदि उसे उस वकील की बुद्धि और विद्या मिली होती तो, अपनी कार्य-सिद्धि के लिए स्वयं करता।

ऊपर के उदाहरणों और मनुष्य के दैनिक जीवन के अध्ययन करने से मनुष्य का द्वैध स्वभाव स्पष्ट हो जाता है और हम समझने लगते हैं कि मनुष्यों के लिए आदर्शों की ओर उठना कितना कठिन है। उच्च से उच्च आदर्श जब कर्म-क्षेत्र में लाये जाते हैं, तो अन्तःकरण की सभी प्राकृतिक शक्तियाँ उन्हें अपने रँग में रंगने का प्रयत्न करती हैं। यही कारण है कि हम किसी भी धार्मिक अथवा सामाजिक सत्य या आदर्श को किसी भी धर्म-संस्था या समाज में पूर्ण-रूप से कार्यान्वित नहीं देखते। बौद्ध और ईसाई-धर्म इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। बुद्धदेव

की शिक्षा सीधी-सादी थी ; उसका मूलाधार, मनुष्य का मनुष्यत्व और उसका आत्मावलम्ब ही थे और उसमें न देवता, न देवी, न परमेश्वर की गुंजायश थी ; किन्तु वही ऐसा परिवर्तित कर दिया गया कि वह अनेक देवता-देवियों का क्षेत्र हो गया, जिनके शासक स्वयं गौतम बना दिये गये । इसी तरह ईसा की प्रेममयी और त्यागमयी शिक्षा जब श्वेत जातियों में पहुँची तब इसका मोक्ष रूप हो उठा । एक ओर तो डाइनों और भिन्न विश्वास वालों को जला-जलाकर पवित्र करने के लिए सघ (जिसे capnquisition कहते थे) स्थापित हुए, और दूसरी ओर असवर्ण, अशिक्षित और दुर्बल जातियों का परलोक सुखमय बनाने के लिए क्रूरता और अत्याचार की विभीषिका रची गयी । यह बात नहीं थी कि इन परिवर्तनों के करने वाले अशिक्षित, या मौलिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ रहे हों । इतिहास बताता है कि इन परिवर्तनों के कराने वाले अपने समय के सबसे प्रतिष्ठित और उन्नत मस्तिष्क वाले ईसा के परम भक्त ही थे । इन उदाहरणों को देखकर हम यही कह सकते हैं कि मनुष्य का स्वभाव न केवल शुभ है, न केवल अशुभ; न वह देवमय है, न दानवमय; न उसमें केवल सत्य न केवल असत्य ही रहता; किन्तु वह एक विचित्र सम्मिश्रण है, जो समय-समय पर अपनी द्विविधता दिखाया करता है । इस तरह हम देखते हैं कि निरपेक्ष, स्वयंसिद्ध सत्य, सामाजिक क्षेत्र में आकर सापेक्षत्व धारण करता-सा प्रतीत होने लगता है । हमारी आँखों के सामने सत्य की जो खींचातानी रूस और अमरीका में हो रही है, और जिसने अपर देशों को किंकर्तव्य-विमूढ़-सा बना दिया है, मनुष्य-स्वभाव की अंधता को पूरी तरह स्पष्ट कर देता है । यह प्रसिद्ध वाणी—‘सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्’, भी शायद इसी बात को ध्यान में रख कर लिखी गयी थी । किन्तु इसके विपरीत भी वाक्य मिलते हैं—

वरं कूपशतात् वापी वरं वापी शतात् क्रतुः ।

वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशतात् वरं ॥

नहि सत्यात् परो धर्मो नावृतात् पातकं परं । (ब्रह्म वैवर्ते)

सत्यमूलं जगत सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितं । (बाराहे)

सत्यमेव जयते नाऽनृतम् ।

उपर्युक्त वाक्यों पर विचार करते ही हम सत्य के वैज्ञानिक और दार्शनिक अर्थों के पास पहुँच जाते हैं; क्योंकि जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे स्पष्ट है कि जिस सत्य को जगत का मूल, और सभी का अधिष्ठान बताया गया है, और जो नित्य विजयी होता है, उसका तो हम समाज में आभास भी नहीं पाते अथवा पाते भी हैं तो केवल विशिष्ट पुरुषसिंहों में, जैसे महात्मा गांधी आदि । सभी देशों और कालों में कोई न कोई ऐश्वर्य और धन से उन्मत्त पाइलेट (Pilate) होता ही है, जिसे सत्य पर विचार करने की फुरसत रहती नहीं और जिसके अनुकरण करने वाले लाखों लाख होते हैं । ऐसों के लिए इन्द्रियगोचर संसार ही सब कुछ है; इसलिए पहले वैज्ञानिक सत्य पर विचार करना आवश्यक है ।

बीसवीं शताब्दी के पहले तो वैज्ञानिकों ने उसे ही सत्य माना था जिसे वे अपनी प्रयोगशालाओं में प्रयोगों-द्वारा सिद्ध कर पाते थे । उदाहरणार्थ, वह एक अखण्ड सत्य था कि द्रव्य एक लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई वाला इन्द्रियगोचर ठोस पदार्थ है ; द्रव्यों में परस्पर आकर्षण और विकर्षण होता है ; देश (space) और काल की भिन्न-भिन्न स्थिति है, इत्यादि । यदि उनसे कोई कहता कि इन सत्यों से भी उच्च कोटि का सत्य सम्भव है, जैसे आत्मा या ईश्वर, तो वे पाइलेट की तरह ही हँस कर पूछते, 'वह क्या है ?' किन्तु बीसवीं शताब्दी का विज्ञान यह मानने पर तैयार हो गया है कि विज्ञान न तो परम सत्य की खोज ही करता है, न उसकी खोज की आवश्यकता ही स्वीकार करता है । इसका ध्येय सत्य के कतिपय ऐसे अंशों का ही अन्वेषण है, जिनका वैज्ञानिक नाप-तोल कर सकता है । इस तरह वैज्ञानिक सत्य सीमित परिधि का सत्य है । परन्तु आइन्सटाइन (Einstein) के सापेक्षत्ववाद (Theory of Relativity)

ने तो ऐसे सीमित सत्त्यों के अस्तित्व को ही हिला दिया है। उदाहरणार्थ, देश (space) और काल, जो वैज्ञानिक सत्त्यों में दो मौलिक सत्य हैं, अपने विभिन्न अस्तित्व को खो बैठे हैं ; एक का दूसरे से अलग अस्तित्व मानना गलत सिद्ध हो गया है। इसी तरह आकर्षण शक्ति (Force of Gravity) भी गलत सिद्ध हो गयी है। जिसे न्यूटन (Newton) ने (Force of Gravity) माना था, उसका अस्तित्व गायब होकर वह त्रिमूर्त 'देश' (लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई वाला space) और काल के समन्वित क्षेत्र का उर्वरत्व सिद्ध किया गया है। इस तरह हम इस बात पर पहुँचते हैं कि वैज्ञानिक सत्य भी उस परिभाषा के अन्दर नहीं आता जो ऊपर दी गयी है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि सत्य वही है जो अस्तित्व में अधिष्ठित हो अथवा उसका पोषक हो। ऐसे ही अस्तित्व को सत् कहते हैं जिसका न उद्भव, न नाश, न वृद्धि, न हास होता है। यह सत् नाम-रूप के नियमन में नहीं आ सकता, क्योंकि नाम-रूप परिवर्तनशील हैं। संसार तो नाम-रूप वाला है और इन्द्रियाँ, संसार के अंग होने के कारण, नाम-रूप का ही ग्रहण कर सकती हैं। यही कारण है कि सत् में अधिष्ठित सत्य विज्ञान का विषय नहीं हो सकता। इसी बात को ईशोपनिषद् ने अपने अनूठे ढंग में कहा है—

हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ॥

मनुष्य का हृदय इस बात को जानता है और उस सत्य की खोज करने के लिए कभी न कभी बाध्य हो जाता है। इसी सत्य की झलक उसे कभी-कभी अपने में ही मिलती है और जब वह प्रकृति के गुणों के वश में आकर उसके प्रतिकूल आचरण कर बैठता है, तब उसके हृदय से एक महान क्रन्दन उठता है और वह अपने को पतित और पापी कहने लगता है। जो बार-बार सत्य की अवहेलना करके सत्य के द्रोही हो बैठते हैं, वे ही 'आत्म-हन्' (आत्म-घाती) कहे जाते हैं।

अब हम देख पाते हैं कि सत्य का 'अस्ति' से भिन्न कल्पना भी नहीं की जा सकती ; साथ-साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो 'अस्ति' है, वह 'भाति' (या समान) भी है, तथा 'प्रिय' भी है और हमारा हृदय बराबर इस 'अस्ति, भाति, प्रिय' के लिए लालायित रहता है । दूसरे शब्दों में, हम 'सत्-चित्-आनन्द' के भूखे हैं और जिन कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों से हम उसकी ओर उठ सकते हैं और अन्त में उसकी प्राप्ति से अपनी भूख मिटा सकते हैं, वे ही सत्य हैं । यही कारण है कि हमारे कर्म, जितनी ही निकटता उस सत्-चित्-आनन्द से स्थापित कर पाते हैं, उतना ही लोकमत के प्रिय होकर, बेमौंगे आदर पाते हैं । इस तरह दार्शनिक दृष्टि से सत्य की परख गम्भीर और सूक्ष्म है और मानव-कर्मों का जो मूल्य ऐसे सत्य के मानदण्ड से निकलता है, वह सर्वदा सांसारिक मानदण्डों से प्राप्त मूल्यों से भिन्न ही होता है । ऐसा ही सत्य सर्व विजयी है, और उसी में सब अधिष्ठित कहा जाता है ।

[फरवरी, १९५१]



अभय

‘आत्मैवेदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः; सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् । सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहं नामाऽभवत्; तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्तवान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्यभवति...सोऽविभेत्तस्मादेकाकीविभेति; सहायमीक्षां चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नुविभेमि इति; तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्वयभेष्यत्; द्वितीयात वैभयं भवति ।’ (वृ० आ० ३० अ० १ ब्रा० ४ मं० १, २) । (पहले पुरुष के रूप में केवल आत्मा ही था । उसने देखकर पाया कि उसे छोड़कर कोई नहीं दृष्ट होता । उसने पहले-पहल सोऽहमस्मि कहा । इससे वह ‘अहं’ नामवाला हुआ । इसी कारण जब कोई किसी को आमन्त्रित करता है तो वह पहले ‘मैं’ का कह करही तब दूसरा अपना नाम बोलता है.....। उसे भय हुआ, इसी कारण एकाकी मनुष्य को भय होता है ; उसने सोचा कि मुझे छोड़कर तो कोई है नहीं, तो मैं किससे डरता हूँ ; ऐसा सोचने से उसका भय हट गया और इसीसे दूसरों से ही भय होता है ।)

भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने दैवी सम्पद का वर्णन किया है, वहाँ ‘अभय’ को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्शनयोगव्यस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

महात्मा गांधी भी अपने अनुयायियों को ‘अभय’ रहने के लिए ललकारा करते थे । पण्डित जवाहरलाल नेहरू बार-बार ‘भय’ को ही

संसार की वृत्तमान शोचनीय दशा का कारण बताते आये हैं और जब हम अपने सामाजिक जीवन का निरीक्षण करते हैं, तब हम देखते हैं कि यहाँ भय का अखण्ड राज्य है। इससे 'भय' और 'अभय' के तत्त्व पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऊपर उद्धृत वृहदारण्यक के वाक्य में दो परस्परविरोधी दृष्टिकोण पाये जाते हैं। जब मनुष्य एकाकी रहता है, तब उसे भय होता है, किन्तु जब वह विचार करता है कि अकेले को भय किससे, तब उसका भय छूट जाता है और वह दूसरे से ही डरने लगता है। दोनों ही दृष्टिकोणों से 'भय' की स्थिति तो माननी ही पड़ती है। किन्तु उसका कारण स्पष्ट नहीं होता। विचार करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'भय' के अनन्त रूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही से मनुष्य 'भय' खाता है, और उस भय के निवारण के लिए जागरूक रहकर अनेक यत्न करता है। इन यत्नों में उसे दूसरों की सहायता की भी आवश्यकता पड़ती है और कभी-कभी तो जिससे भय है उसके नाश का भी प्रयत्न करना पड़ता है। हम जब विद्या के किसी भी ऐसे विभाग का अध्ययन करते हैं जिसका सम्बन्ध मनुष्य-जीवन से है, तब उसमें हम इस 'भय' की स्पष्ट छाप पाते हैं।

अर्थशास्त्र में 'संघर्षवाद' एक मूल नियम है। कृषक, मजदूर और पूँजीपति नित्यप्रति एक दूसरे का गला काटने को तैयार समझे जाते हैं। नीतिशास्त्र के नियम तो इसी सिद्धान्त पर बनाये ही जाते हैं कि राष्ट्रों को अपने शत्रुओं से कैसे बचना चाहिए, दूसरे राष्ट्रों का बल कैसे घटाना और अपना कैसे बढ़ाना चाहिए, इत्यादि। इसी तरह 'धर्मशास्त्र', जिनका लक्ष्य वर्तमान सामाजिक संगठन को जीवित रखना ही होता है, वर्तमान और भविष्य के संकटों के निवारण के लिए ही बनाए जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य का जीवन भयमूलक सिद्धान्तों पर खड़ा किया जाता है। मनुष्य का तो यह हाल है; किन्तु हम देखते हैं कि कोई भी जीव भय से अस्पृष्ट नहीं दीखता। तथापि यह देखने में आता

है कि सबसे नीच योनियों में, जैसे, कीट, पतंग आदि में भय की अभिव्यक्ति बहुत कम होती है। वृत्तों में तो शायद भय का स्थान ही नहीं होता, किन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य के पास इनकी आन्तरिक अवस्था को जाँचने का कोई साधन नहीं है। इनके ऊपर श्रेणी के जीवों में भय तो अवश्य रहता है। पशुओं के भय के विषय में दो बातें स्पष्ट दीख पड़ती हैं—उनका भय इन्द्रियगोचर पदार्थों से होता है; और जिन जीवों से उन्हें भय होता है उनका ज्ञान उन्हें सहज ही प्राप्त हो जाता है। यदि कुत्ता, घोड़ा, हाथी आदि को सिंह की गन्ध मिल जाय तो वे एकदम काँपने लगते हैं और वहाँ से जितनी दूर हो सकता है भाग जाने का प्रयत्न करते हैं। कबूतर का बच्चा यद्यपि बाज को नहीं जानता, किन्तु उसके आने से ही भयभीत हो जाता है। परन्तु जिस जीव को पशु हानिकर नहीं समझता, उसके प्रति वह उदासीन-सा रहता है। हम पाते हैं कि यद्यपि पशु शत्रु पहचानने में कभी गलती नहीं करता, मनुष्य पशुओं से अधिक बुद्धिमान होकर भी अपने शत्रु और मित्र के बिलगाने में कभी-कभी बड़ी भूल कर बैठता है। इतना ही नहीं, पशुओं की तरह मनुष्य को भय केवल इन्द्रियगोचर कारणों से नहीं होता। इस विषय में मनुष्य पशुओं से भी गया-बीता है। वह अपने विशिष्टगुणों के कारण पशुओं से जितना ही ऊँचा है, भय के विषय में तुलना करने पर उनसे उतना ही हीन प्रतीत होता है। वह साधारणतः अपने उच्च गुणों को पशुओं से ऊपर उठने के लिए व्यवहार नहीं करता। शेक्सपीयर (Shakespeare) ने अपने विख्यात 'टु बी और नॉट टु बी' (To be or not to be) वाले आत्मगत भाषण (Soliloquy) में दिखा दिया है कि मनुष्य इस संसार के दुःखों, असफलताओं, परिवर्तनों और कटु-व्यवहारों से ऊब कर अपने जीवन का अवश्य अन्त कर देता, यदि उसे अदृष्ट और अव्यक्त का भय ऐसा करने से नहीं रोकता। मनुष्य को प्रतिभा और बुद्धि मिली है; किन्तु वह इनका प्रयोग अपने भय को बढ़ाने में ही करता है।

मनुष्य त्रिविध शक्तियों का सम्मिश्रण है; शारीरिक, मानसिक (अन्तःकरण सम्बन्धी) और आध्यात्मिक। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में इन शक्तियों का बराबर विकास नहीं दीखता, साधारण व्यक्तियों में विश्लेषण करके निश्चय रूप से यह कहना कि अमुक शक्ति का इतना बल है असम्भव-सा प्रतीत होता है। अधिकतर तो यह देखा जाता है कि कभी एक शक्ति, कभी दूसरी, कभी तीसरी उसी व्यक्ति में प्रधानता प्राप्त कर लेती है और तब मनुष्य का व्यवहार उसी शक्ति के अनुसार हुआ करता है। यह सभी जानते हैं कि असंस्कृत बुद्धिवाले, काम, क्रोध, लोभ, मोह के बराबर शिकार बना करते हैं। जिनकी बुद्धि पूर्ण विकास प्राप्त करके शारीरिक शक्तियों को अपने वश में कर चुकी है, उनके कर्म केवल शारीरिक शक्तियों की प्रेरणाओं से नहीं होते। उसी तरह जिनकी बुद्धि आध्यात्मिक शक्तियों के विकास से निर्मल हो जाती है, उनके कर्म आध्यात्मिक शक्तियों की प्रेरणाओं से ही हुआ करते हैं।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हम 'भय' की जाँच-पड़ताल कर सकते हैं। हम देखते हैं कि भय का साधारण और गाढ़ा सम्बन्ध व्यक्तित्व से है। मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु उसका व्यक्तित्व है और उस व्यक्तित्व को कायम रखना उसके जीवन का परम लक्ष्य है। यदि हम 'नास्तिक और वैज्ञानिक' विचारों के अनुसार मनुष्य को शरीर ही समझे, तो इस व्यक्तित्व की प्रियता समझने में कठिनाई नहीं होती। किन्तु यदि आस्तिक विचारों के अनुसार हम एक आत्मा को स्वीकार कर लेते हैं और उसे 'निर्विकल्प', 'निर्लिप्त' आदि कहने लगते हैं, तो इसे समझना कठिन हो जाता है। यहाँ दार्शनिक विचारों की गहनता में घुसने की आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि जैसा बृहदारण्यक के मन्त्रों में बताया गया है, इस 'भय' की सम्भावना व्यक्तित्व के भाव होने पर ही होती है। यदि व्यक्तित्व की भावना न हो तो भय किसके विषय में होगा? ईशोपनिषद् में निम्नलिखित मन्त्र आता है—

यस्मिन् सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

‘जिस ज्ञानी में सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं, उस एकत्व देखने वाले के लिए मोह क्या है और शोक क्या है !’ हम यहाँ जोड़ सकते हैं— ‘उसके लिए भय क्या है !’ व्यक्तित्व मनुष्य को दूसरे भूतों से पृथक् करता है, किन्तु यदि किसी का व्यक्तित्व ऐसा महान हो जाय कि वह अपनी लपेट में समूचे दृष्ट और अदृष्ट जगत् को समेट ले, तो उस व्यापक भावना में काम, क्रोध, लोभ, मोह की तो गुञ्जाइश ही नहीं रहती, भय की बात ही क्या है ! इस व्यक्तित्व को हमारे पूर्वजों ने अहंकार कहा है और जब तक अहंकार नहीं होता, कामादि नहीं हो सकते । इस दृष्टिकोण से हम भय को अहंकार अथवा व्यक्तित्व की तीव्रता कह सकते हैं । दूसरे शब्दों में, भय का होना संकुचितता और अज्ञान का सूचक है ।

ऊपर कहा गया है कि हमारा सामाजिक जीवन भय के आधार पर ही खड़ा है । जगत् के सभी राष्ट्र और समाज अपना व्यक्तित्व बनाये रखने में लगे हैं । वे प्रकृति और संसार की मौलिक एकता का निरादर करके अपने संकुचित अहंकार को इतना उच्च पद दे रहे हैं, और अपने भय को बागाडम्बरों में छिपाकर अपनी संकुचितता और अज्ञान की कुरूपता को बड़े-बड़े मनमोहक शब्दों से, जैसे, डीमोक्रेसी, सोसलिज्म, कम्युनिज्म आदि—अलंकृत कर उद्ध्वगामिनी प्रकृति की गति को ही रोकने के निष्फल प्रयत्न में लगे हैं । क्या व्यक्तित्व का प्रकृति और संसार से अधिक मूल्य हो सकता है ? व्यक्ति आते और जाते हैं, किन्तु प्रकृति और संसार वहीं रहते हैं । उनकी समष्टि में भी तो गति होती है, यद्यपि अहंकार के पर्दे से छिपी हमारी आँखें इस गति का पता नहीं पा सकतीं । आज का संसार कल के संसार से भले ही दूसरा न लगे, किन्तु एक युग का संसार, दूसरे युग के संसार से सर्वथा भिन्न रहता ही है । भू-गर्भ-शास्त्र (Geology) के अनुसार इस पृथ्वी की सृष्टि को एक अरब वर्ष हो गये ।

इस बड़े काल को तीन भागों में विभक्त किया गया है—पैलेजोइक (Palaeozoic), मेसोजोइक (Mesozoic), कैनोजोइक (Kainozoic),—और प्रत्येक युग में न केवल भिन्न-भिन्न जीव ही पैदा हुए और नष्ट हो गये, किन्तु पृथ्वी की गठन भी बदलती गई। इन बातों पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि प्रकृति के दरबार में व्यक्तित्व का कुछ भी मूल्य नहीं है। नित्यप्रति नवीन रूपों का आविष्कार होता है, किन्तु एक समय आता है कि वे रूप पृथ्वी से ऐसा उठ जाते हैं कि उनका दूसरे युगवालों को ज्ञान उनके अवशेषों से ही होता है। इसी तरह एक समय था जब पृथ्वी पर केवल गरुड़ आदि बड़े पक्षियों का ही निवास था, फिर ऐसा समय आया जब छिपकिली-वंश के जीवों की प्रधानता थी, इत्यादि। सारांश यह कि समष्टि की गति ही व्यक्तियों के मूल्य का निर्धारण करती है। दूसरे शब्दों में, व्यक्तियों, रूपों और आविष्कारों का मूल्य इसी पर निर्भर करता है कि वे प्रकृति के अभीष्ट-साधन में कितना सहयोगी, कितना लाभदायक बन सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि यद्यपि मनुष्य साधारणतः अपने जीवन को व्यक्तित्व की शींव पर ही खड़ा करता है, अथवा यों कहिए कि उसका सांसारिक जीवन केवल अपने व्यक्तित्व की रक्षा का अविरत प्रयत्न है, हम प्रकृति के दृष्टिकोण से इसमें कुछ भी महत्ता नहीं पाते। अपने को शरीर ही समझना कोई विचित्रता नहीं रखता। इस विषय में मनुष्य और पशु में तो कोई भेद नहीं है। व्यक्तित्व की महत्ता तभी होती है जब वह नष्टप्राय हो जाता है और इसी व्यक्तित्व के अहंकार से भय की उत्पत्ति होती है।

यही पर भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं की मौलिक विभिन्नता स्पष्ट हो जाती है। पाश्चात्य विचारकों में वह विचारधार प्रस्फुटित हुई है जो अव्यक्त पर व्यक्त की प्रधानता मान लेने से ही सम्भव हो सकती है। पाश्चात्यों की दृष्टि में व्यक्तित्व अमूल्य है; उसकी रक्षा उसकी उन्नति करना ही जीवन को अर्थयुक्त बनाता है। यदि व्यक्तित्व

कुछ नहीं है तो इस सृष्टि का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता—यह तो एक पागल के अकारण रोने, हँसने और खेलने की तरह निष्प्रयोजन बनी है और इसमें न कोई सार है न महत्त्व ही। इसलिए पाश्चात्य विचार सांसारिक परिधि के भीतर ही रहना चाहता है, और रहकर मानव-जीवन को सभ्यता के अन्तिम उत्कर्ष तक पहुँचना चाहता है। इस तरह उसकी सत्य की खोज इस भय से सदा खण्डित हो जाती है कि वह सत्य कहीं व्यक्तित्व के प्रतिकूल न सिद्ध हो। बहुत दिन हुए मैंने जर्मन दार्शनिक फिकटे (Fichte) की एक पुस्तक देखी थी। उसमें उसने उपनिषदों के ब्रह्म का खण्डन करने का प्रयत्न किया था और उसकी एक दलील यह थी कि जिस ब्रह्म के प्रतीक में मानव-हृदय के ऐसे बड़े-बड़े गुणों की गुञ्जाइश नहीं, जैसे प्रेम, मैत्री आदि, उस ब्रह्म से मनुष्य का क्या कल्याण हो सकता है ! यह दलील भारतीय विचारों के अपूर्ण अध्ययन से उत्पन्न हुई थी और सत्य-प्रेम की कमी दिखाती है। भारतीय ऋषियों में सत्य की ही लगन थी। उन्हें तो सृष्टि के इस सत्य-स्वरूप को ढूँढ़ निकालना था, चाहे उस खोज का यही फल क्यों न हो कि खोज करनेवाले का व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाय। जो सत्य का प्रेमी है, उसके लिए उस व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं हो सकता, जो सत्य के प्रतिकूल हो। जहाँ पाश्चात्य आदर्श है कि समस्त संसार इस अहंकार के भोग की सामग्री बने, वहाँ भारतीय आदर्श है कि यह अहंकार संसार के उद्धार की सामग्री हो जाय।

ऊपर के वि-लेखण से हम 'अभय' के महत्त्व को समझ सकते हैं। हम देख पाते हैं कि भय का स्थान हमारे सांसारिक जीवन के गम्भीरतम स्तर में है। यदि यह अहंकार न होता तो यह सृष्टि ही कैसे होती ? समष्टि को व्यष्टि में परिणत होने के लिए प्रथम आवश्यकता 'अहं' की है। ऊपर दिये गए वृहदारण्यक के उद्धरण में इसी से लिखा है 'सोऽहमस्मीति' आदि। इससे स्पष्ट है कि निराकार में साकार की, अनन्त में अन्तवन्त की, ब्रह्म में पुरुष की, एक में अनेक की प्रतीति होने के लिए सर्वप्रथम

‘अहं’ की आवश्यकता है। इसीसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों भगवद्गीता ने ‘यस्यनाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते’ (जिसके भाव में अहंकार नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं होती) की प्रशंसा की है। वे ही तो उस आदि अवस्था के पास पहुँचनेवाले हैं जो अहंकार को दमन करके अपने को उसकी ओर ले चलते हैं और इसी से भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥

‘जो मुझे सब जगह देखता है, और सबको मुझमें देखता है, उसमें मेरा नाश नहीं होता, और मुझमें उसका कभी नाश नहीं होता।’ तार्किक दृष्टि से अनन्त का सीमित तथा भयभीत होना असम्भव है। किन्तु जब ‘अविद्या’ वा ‘माया’ के पर्दे के पड़ने से, उस अनन्त में ही ‘अहं’ की प्रतीति हो उठती है, तब भय का साथ-ही-साथ आगमन हो जाता है; क्योंकि जैसे ज्योति होने से ही अन्धकार की भावना होती है, वैसे ही ‘अहं’ का बोध होने से ही ‘नाहं’ या ‘द्वितीय’ का बोध हो जाता है। इसीसे जैसे सृष्टिकर्म का प्रथम रूप ‘अहं’ है, वैसे ही उसका पहला फल ‘भय’ है। फिर जैसे ‘अहं’ के होने से ही भय का जन्म हुआ, उसी तरह ‘अहं’ को हटा देने से, विस्तृत कर देने से या उसका नाश कर देने से भय का भी नाश हो सकता है। मनुष्य जितना ही ‘अभय’ होने का अभ्यास करेगा, उतना ही उसके अहं की शक्ति ढीली पड़ती जायगी।

‘अभय’ और ‘निर्भय’ अवस्थाओं में मौलिक भेद है। ‘अभय’ उस अवस्था को सूचित करता है जिसमें भय का अत्यन्त अभाव है। किन्तु निर्भय वह अवस्था है जिसमें भय तो था, किन्तु वह निकाल दिया गया है। ‘निर्भय’ की अवस्था निम्नलिखित उद्धृत श्लोक से स्पष्ट हो जाती है—

तावद् भयस्य भेतव्यं यावद् भयमनागतम् ।

उत्पन्ने तु भये तीव्रे, स्थातव्यं तैरभीतवत् ॥

(तभी तक भय का भय होना चाहिए जब तक भय आया नहीं है। तीव्र भय उत्पन्न हो जाने पर तो बिना भय खाये खड़ा हो जाना चाहिए।) इससे स्पष्ट है कि आध्यात्मिक दृष्टि से 'अभय' की अवस्था 'निर्भयता' की अवस्था से श्रेष्ठ है, क्योंकि अभय तभी हो सकता है जब—

१—अहंकार का नाश या परिवर्तन हो जाता है ;

२—'वसुधैव कुटुम्बकं' हो जाने से शत्रु और मित्र का भेद उठ जाता है ; और

३—समस्त संसार अपना ही रूप प्रतीत होने लगता है ।

इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान ने 'अभय' को दैवी गुणों में सर्वोच्च स्थान क्यों दिया है। इस दृष्टिकोण से देखने पर निर्भय मनुष्यों और कर्मों का आदर करने की मानव प्रवृत्ति भी समझ में आने लगती है। जिस मनुष्य में जितना ही 'अभय' का विकास हुआ है उतना ही वह 'अहं' अथवा व्यक्तित्व के ऊपर उठा है। जो सैनिक वीर अपने देश के लिए हँसते-हँसते प्राण दे देता है अथवा अपने प्रेमपात्रों की रक्षा के लिए मर मिटता है; जो उदारहृदय दुःखियों को दुःख को देखकर अपने को भूल उनके दुःखों के निवारण में तन्मय हो जाता है; जो 'परोपकाराय सतां विभूतयः'—को प्रति दिन के जीवन में चरितार्थ करता है; वह अवश्य मनुष्य मात्र में गौरव पाता है। वे भी पुरुषश्रेष्ठ ऐसे ही होते हैं, जो जगत को पवित्र करनेवाले, ऊपर उठाने वाले, संकुचितता को दूर करनेवाले, ज्ञान के प्रकाश को बढ़ाने वाले सिद्धान्तों की स्थापना के लिए, अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं। उनकी अवस्था लोकोत्तर की हो जाती है। 'अभय' मनुष्य, जीवनमुक्त रहता है। ऐसे ही राम हुए, जिन्होंने प्राणों पर खेल कर आर्य-सिद्धान्तों की रक्षा की। ऐसी ही बुद्ध हुए, जिन्होंने व्यक्तित्व की सभी माँगों को ठुकरा कर, दुःख और अज्ञान से पीड़ित संसार के प्राणियों का कल्याण

सिद्ध करने का कठिन प्रण किया। युग-युग में ऐसे अनेक आदर्श जीवन पाये जाते हैं—जैसे सुकरात, ईसा, मोहम्मद आदि। हमारे जीवनकाल में ही कितने आदर्श मानव हुए जिनके सिरमौर महात्मा गांधीजी स्वयं थे। उनके विषय में आज के लोगों के लिए अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। निम्नांकित ईशोपनिषद् का वाक्य उन्हीं में चरितार्थ देखा गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

‘जो निरन्तर आत्मा में ही समस्त भूत और समस्त भूतों में आत्मा को देखता है, वह फिर किसी से ऊबता नहीं।’

[नवम्बर, १९५१]

— — — — —

प्रगति

जीवन गतिमान है; सभी अनुभूति के विषय परिवर्तनशील, चलायमान और अनस्थिर हैं। जो चला जा रहा है, क्षण भर भी नहीं टिकता, उसी को आर्यों ने 'जगत्' कहा है—'जगत्यां जगत्'। परन्तु मनुष्य की विभूतियाँ ऐसी हैं कि इस रीति से खोलते हुए, आन्दोलित होते हुए संसार रूपी उदधि के हिल्लोलों, आवर्तों और वीचिकाओं को देखता हुआ भी, वह उनके यथार्थ अस्तित्व को भूल-सा जाता है, उन्हें अनदेखा-सा कर देता है, और उनकी नित्यता का स्वप्न देखने लगता है। तथापि एक-न-एक दिन वह संसार अपने नग्नरूप में उसके स्वप्नों पर भर्रा पड़ता है और तब उसे अपनी आँखें बरबस खोलनी ही पड़ती हैं। इस रीति से संसार के लिए गति स्वाभाविक है; और यद्यपि हममें स्थिरता, नित्यता की भी माँग है, हम उसे इस इन्द्रियगोचर संसार में कहीं नहीं पाते। परन्तु जब हम प्रगति शब्द का व्यवहार करते हैं, तब हम केवल इस स्वाभाविक गति का संकेत नहीं करते; हम 'गति' में 'प्र' जोड़ते हुए, अपने-अपने स्वभाव और विचारों के अनुसार अनेकानेक बातों को जोड़ देते हैं और अनेक वादों की सृष्टि करते हैं। आज दिन तो वादों की भरमार है - पूँजीवाद, मार्क्सवाद और लेनिनवाद से लेकर मनो-बिरलेषण-वाद, छाया-वाद और प्रगतिवाद तक, और इन्हीं वादों में प्रगति केन्द्रित-सी मानी जाती है। इन वादों में लिप्त, प्रगति के प्रेमियों को यह मोचने का समय नहीं मिलता कि प्रगति कैसी और किधर होनी चाहिए।

प्रगति के प्रेमियों में विज्ञान का बड़ा भरोसा होता है। यद्यपि विज्ञान एक है, वह अनेक खण्डों में विभक्त है और प्रत्येक खण्ड अपना-अपना वाद रखता है। मनुष्य-जीवन तो एक अविभक्त इकाई है, और इसीसे उपरोक्त विभाजन से विज्ञान में एकदेशीयता देखी जाती है। प्रगति के नियमों को स्थिर करने के लिए किस खण्ड को प्रधानता दी जाय, यही भक्तों को स्पष्ट नहीं होता। जब हम प्रगति की बात कहते हैं, हम समस्त जीवन को ही प्रगतिशील बनाना चाहते हैं। यह स्वाभाविक है कि हमारी पहली दृष्टि समाज पर ही पड़े क्योंकि हम उसके अङ्ग हैं और उसे ही अपने सुखों और दुखों का भौतिक कारण समझते हैं। समाज के बाद हमारी दृष्टि साहित्य और कला पर पड़ती है। हम चाहने लगते हैं कि इन सबों में हम वह प्रगति देखें जिसका चित्र हमारे हृदय में बस गया है। अधिकतर तो हमारे विचार अस्पष्ट रहते हैं, केवल हमारे भीतर एक प्रेरणा होती है कि जो कुछ है, अथवा था, उसे छोड़कर किसी नवीन दिशा में, किसी अनभ्यस्त राह से चलें। इस तरह प्रगति के पुजारियों का प्रधान लक्षण, कारण-अकारण, नवीनता की खोज होती है। परिणामतः परम्परा से प्राप्त नियमों, सिद्धान्तों और संगठनों का विरोध, खण्डन और नाश करने की प्रवृत्ति जाग जाती है। स्वयं विज्ञान में तो प्रगति-वादियों की दाल नहीं गलती। वे दूर-दूर से ही उसे देख-कर अपने को उमंग से भर लेते हैं और अपनी टाँग अड़ाने की धृष्टता नहीं करते। जब हम साहित्य और कला के क्षेत्रों में घुसते हैं तो पाते हैं कि जहाँ भाषा और शैली में बिना किसी कठिनाई के, तोड़-मरोड़ करने से नवीनता लाई जा सकती है वहाँ भाव और विचार के क्षेत्रों में प्रगति की चाल ढोली पड़ जाती है। परन्तु समाज के क्षेत्र में तो प्रगति की दौड़ की सीमा नहीं रहती। इसका कारण यह है कि मनुष्य के भावों की संख्या तो बढ़ाई नहीं जा सकती और बुद्धि के मौलिक नियमों में भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि हम अपने भावों को संकीर्ण वा विस्तृत, गहरे वा छिछले बना सकते हैं, परन्तु प्रेम प्रेम ही,

द्वेष द्वेष ही रहेगा और हम न तो एक को दूसरा बना सकते, और न एक के लक्षणों को दूसरे में आरोपित कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि प्रेम की प्रगति प्रेम में, और द्वेष की द्वेष में होगी। इस तरह नवीनता की खोज इन क्षेत्रों में असफल हो जाती है। फिर भी नवीनता की खोज करनेवाले प्रयत्न करने से चूकते नहीं।

यह बात नहीं कि मानव-हृदय नवीनता नहीं चाहता। जब प्रति वर्ष अपने चमकीले नवीन परिधानों को पहनकर, नई नवेली की तरह, प्रकृति हमारी आँखों के सामने मुसका उठती है, तो किस हृदय में गुदगुदी नहीं उठ आती? जब ग्रीष्म के ताप से पीड़ित आँखों के सामने श्याम मेघों की माला आकाश में छा जाती है अथवा नवीन कोमल दूबों की हरियाली अंजन बनकर फैल जाती है, तो किस मनुष्य को नहीं मोह लेती? किन्तु यह नवीनता कुछ और है और प्रगतिशील नवीनता कुछ और। ऐसी नवीनता की इच्छा, मन की चञ्चलता से होती है। मन की चञ्चलता बुद्धि और भावों की शिथिलता और सद्विचारों के अभाव से होती है। परन्तु देखा जाता है कि साधारण मनुष्य ऐसी नवीनता को उन विषयों से अलग ही रखना चाहता है, जिनका उसके जीवन से गहरा और अभ्यस्त सम्बन्ध है और जिनके पूर्व संस्कारों ने ही उनकी विभूतियों में उन भावों को जड़ रखा है जिनसे साहित्यादि की सृष्टि होती है, उनके लिए तो नवीनता का प्रश्न ही नहीं उठता। वे तो, टेनिसन के शब्दों में अपने स्वभाव से लाचार रहते हैं—'I Sing because I must—(मैं गाता हूँ क्योंकि लाचार हूँ)। उन्हें तो अपने गहरे धँसे, भावों को उगलकर हृदय के बोझ को हल्का करने की पड़ी रहती है, नवीनता की खोज का अवकाश कहाँ रहता है। परन्तु नवीनता के भक्तों की बात ही दूसरी है। वे यदि नवीनता न ढूँढ़ें, तो जिस ख्याति के लिए वे कलाकार आदि कहाना-चाहते हैं, वह कैसे प्राप्त हो?

उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि नवीनता रूपों में, आडम्बरों में अमिव्यक्ति में ही हो सकती है, न कि भावों या विचारों में। आवि-

ष्कार नवीन हो सकता है, जैसे वेदों के त्रिष्टुप आदि छन्दों के स्थान पर, आदि कवि वाल्मीकि ने बिना प्रयत्न के, बिना नवीनता की खोज के, अनुष्टुप श्लोक का निर्माण किया। कवियों ने कहा है कि जब उन्होंने निम्नलिखित श्लोक का उच्चारण किया, तो उनका शोक ही श्लोक बन गया।

मानिषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत् कौञ्चमिथुनादेकमबधीः काममोहितं ॥

यदि कोई नवीनता को ही अपने जीवन का ध्येय बना ले तो बड़े ही खेद की बात है क्योंकि असङ्गत होने के साथ-साथ वह अनावश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न होता ही है और यदि उसका व्यक्तित्व पूर्ण विकसित है, तो उसकी कृतियों में उसकी अभिट छाप रहेगी ही जिससे वह अनायास ही विशिष्ट होगा।

हम अब कह सकते हैं कि यदि 'प्रगति' का ध्येय केवल नवीनता है, तो वह प्रगति कहाने योग्य नहीं है। उसे तो हम पतन ही कह सकते हैं। प्रेम की व्यञ्जना अनेक रीति से होती है। कोई हाथ मिलाता है कोई आलिङ्गन करता है, कोई चुम्बन करता है। किसी का प्रेम आकृति से ही व्यक्त होता है। यदि कोई कवि वा कलाकार, नवीनता की खोज में, विलक्षण ढङ्ग निकाले, तो वह हास्यास्पद ही होगा। इसलिए केवल नया नक्शा खींचना, एक नया ढाँचा खड़ा कर देना भी प्रगति नहीं कहा सकता। यह बात नहीं है कि हम इस संसार में प्रगति का उदाहरण नहीं पाते। सत्य बात तो यह है कि प्रकृति स्वयं प्रगतिशील है और इस बात को भारतीय विचारकों ने बहुत पहले ही देख और जान लिया था। इसी प्रगति को सूचित करने के लिए दशावतार-कथा का प्रचार हुआ। पाश्चात्य विज्ञान अब इस प्रगति को मानने लगा है।

यदि हम इस प्राकृतिक प्रगति पर ध्यान दें और उससे शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करें तो बड़ा लाभ हो। भू-गर्भ-तत्त्व-वेत्ताओं की धारणा है कि लाखों-लाख वर्ष हुए जब यह पृथ्वी अग्निरूप थी और उस समय जिस जीव को हम आज चातुर्दिक में प्रसारित देखते हैं, उसकी सम्भावना

भी न थी। तब वह अग्नि लाखों वर्ष में शान्त हुई और जल, वायु और ठोस पृथ्वी की सृष्टि हुई। इस परिवर्तन में फिर लाखों वर्ष व्यतीत हुए और तब प्रथम जीवन का जल में सञ्चार हुआ। यह जीवन मत्स्य के पूर्व रूप, प्रोटोप्लाज़्म (Protoplasm) में व्यक्त हुआ। इसके अनन्तर सच्ची मछलियाँ हुईं। तदन्तर पृथ्वी पर रहनेवाले जीवों की सृष्टि हुई, कच्छों से लेकर चतुष्पदों और खगों तक। सबके अन्त में मनुष्यों की सृष्टि हुई। भारतीयों के अनुसार भी प्राकृतिक प्रगति का यही क्रम रहा है—मच्छ, कच्छ, वाराह, नरहरि, नर। इससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक प्रगति बराबर उत्तमोत्तम रूपों और जीवों के उत्पादन की ओर रही है और हम अनुमान कर सकते हैं कि यही प्रगति आगे भी रहेगी क्योंकि कोई कारण नहीं दीखता जिससे हम कह सकें कि इससे विपरीत गति की सम्भावना है। जीव-शास्त्रज्ञों (Biologists) का कहना है कि नीचकोटि के जीवों के मस्तिष्कों की बनावट अत्यन्त हेय होती है और जब उनके मस्तिष्कों का मनुष्यों के मस्तिष्कों से मिलान किया जाता है, तो स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतिक प्रगति उच्चतम कोटि के मस्तिष्कवाले जीव की सृष्टि की ओर ही है। मस्तिष्क की शक्तियों से ही मनुष्य दूसरे जीवों से विशिष्ट होता है। चार अपूर्व शक्तियों—अहंकार, बुद्धि, चित्त और मन—का क्रीड़ा स्थान मस्तिष्क ही है, और मस्तिष्क ही शरीर के सभी इन्द्रियों पर और भावों के केन्द्र हृदय पर शासन करता है।

जो प्रकृति को आवरण मानकर, छिपे हुए सत्य को खोजते हैं, जो हिरण्मय ढक्कन को सत्य के मुख से हटाना चाहते हैं और सत्य के नियमों को ही आदर्श मानते हैं, उनकी बात तो मैं आगे कहूँगा, परन्तु यहाँ पहले उनकी विवेचना करनी है, जो विज्ञान की ही दुहाई दिया करते हैं। ऐसे लोगों से तो यही आशा की जाती है कि वे प्राकृतिक नियमों को आदर्श अवश्य मानेंगे। उपरोक्त वैज्ञानिक बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि प्रकृति की प्रगति स्थूल से सूक्ष्म की ओर हो रही है—हेय मस्तिष्क और वृहत् भयंकर रूपोंवाले जीवों—मैमथ, गरुड़ आदि—से

वृहत् मस्तिष्क और हेय शरीरवाले जीवों, जैसे मनुष्य की ओर। यह गति अधोगति या उद्ध्वगति है ? भारतीयों ने तो इस गति को चक्रवत् जाना है किन्तु पाश्चात्यों ने इस गति को एक अज्ञात लक्ष्य की ओर जानेवाली उद्ध्वगतिमयी माना है। यह दृष्टि-कोण की विभिन्नता उसी मौलिक कारण से होती है, जो भारतीय संस्कृति को सभी संस्कृतियों से विशिष्ट बनाता है—आवरणों को भेद करने की प्रेरणा और प्रयत्न। विज्ञान पर अवलम्बित पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार, दृष्ट-जगत के उन्हीं परिवर्तनों के लिए 'प्रगति' शब्द का व्यवहार किया जा सकता है, जो इन्द्रियगोचर हों, जो मनुष्य के भोगों को पराकाष्ठा तक पहुँचावें और भोग करने की शक्तियों को पुष्ट किया करें। इस ध्येय को सर्वोच्च स्थान देकर, पाश्चात्य सभ्यता अपने सभी अङ्गों को उसी के अनुकूल बनाने में लगी रहती है—साहित्य, कला, सामाजिक सङ्गठन। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होगा कि जिस साम्यवाद (Communism) को मार्क्स और लेनिन ने अपने तार्किक और ऐतिहासिक जड़वाद (Dialectical and historical materialism) के तर्कों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वह इसी विचारधारा का फलस्वरूप है। मार्क्सवाद का समालोचना करना इस लेख का ध्येय नहीं है, परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि मार्क्सवाद उन्नीसवीं सदी के विज्ञान की रूढ़ियों पर खड़ा किया गया था और बीसवीं सदी के विज्ञान ने उन रूढ़ियों की जड़ को ही हिला दिया है।

उपरोक्त सभी बातों पर विचार करने से प्रश्न उठता है कि विचार धारा का स्थूल में ही लिपटा रहना क्या प्रगति का लक्षण हो सकता है ? हम देख चुके हैं कि प्रकृति की गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर है। जो विचारधारा इस गति पर ध्यान न देकर, जगत को स्थूल की ओर ही घसीटना चाहती है वह कैसे प्रगतिशील कही जा सकती है ? परन्तु प्रगति के नाम पर जान देनेवाले कहेंगे कि हमारा जीवन तो स्थूल है, शरीर-यात्रा को सुखमय, निर्विघ्न और ओजस्वी बनाना हमारा परम पुरुषार्थ है। सूक्ष्म

की ओर जाने से तो हमारे जीवन की उलभी गुत्थियां सुलझती नहीं, और न हम अपने जीवन-क्षेत्र को स्वर्ग ही बना सकते। संसार में जो कुछ अभी तक किया गया है, वह केवल पीड़ा, अन्याय, असन्तोष ही पैदा करता आया है। इसी कारण उनको उखाड़ फेंकना आवश्यक है। तभी ऐसे नवीन समाज की सृष्टि की जा सकती है जिसमें ऐसी बुराइयां फिर न उत्पन्न हों।

यदि स्वर्ग को पृथ्वी पर उतार लाना ही प्रगति-वादियों का ध्येय हो, तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या स्थूल वा जड़-बाद इस ध्येय तक पहुँच सकता है? पहली बात तो यह है कि स्वर्ग तो किसी ने देखा नहीं, और प्रत्येक मनुष्य का स्वर्ग अपना होता है। स्वर्ग के नाम पर यदि किसी के सामने छत्तीस या बहत्तर प्रकार के स्वाद्य पदार्थों के चित्र नाच उठते हैं, तो दूसरे के सामने हूर-परियों की पंक्तियां दीखने लगती हैं; किसी के सामने अपार धन से भरे कोष-गृहों का चित्र आ जाता है, तो किसी के सामने गुद्गुदेदार शय्या पर दिन रात बिताने की भावना चमक उठती है। इस तरह हम देखते हैं कि स्वर्ग अथवा सुख की भावनायें प्राणी-प्राणी में भिन्न होती हैं। जहाँ शूकर को कीचड़ की आवश्यकता होती है, वहाँ हंस को गङ्गा और मानसरोवर की आवश्यकता होती है। हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक स्वतन्त्र जीव अपने-अपने स्वर्ग की प्राप्ति के लिये यथासम्भव प्रयत्नशील होता है। दूसरी बात यह है कि प्रगति में लीन होकर हम इस बात पर विचार करना भूल जाते हैं कि इस संसार में कर्म कैसे और किन प्रेरणाओं से किये जाते हैं। यदि हम इस विषय पर निष्पन्न होकर सोचें, तो हम पावेंगे, कि हमारे प्राकृतिक कर्मों को छोड़कर, (जैसे खाना, पीना, आदि) हमारे सभी कर्म, काम, क्रोध, लोभ, मोह की प्रेरणाओं से हुआ करते हैं। उनमें शुद्ध बुद्धि का बहुत कम भाग होता है। हमारे ऋषियों के अनुसार इनका मूल कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही है। इस दृष्टि-कोण से देखने पर स्पष्ट होगा कि यदि हमारी प्रगति-विषयक धारणायें इस मूल कारण के आधार

पर नहीं बनी हैं, तो अवश्य गलत होंगी। इन विचारों से हम कह सकते हैं कि न तो केवल नवीनता की खोज, और न केवल परम्परा-प्राप्त संगठनों के केवल नाश की प्रवृत्ति, प्रगति का योग्य ध्येय हो सकती है। हम उसकी योग्य दिशा और ध्येय तभी निश्चित कर सकते हैं, जब हम प्रकृति-और विशेषतः मानव प्रकृति के उन मूल-भूत नियमों का गम्भीर और निष्पक्ष अध्ययन कर लेंगे, क्योंकि तभी हमें संसार के कील-कांटों का, और उसके चलाने वाले महान शक्तियों का यथार्थ ज्ञान होगा और हम इस योग्य हो सकेंगे कि प्रगति की चाल और दिशा का निर्णय करें।

पाश्चात्य सभ्यता वाह्य जगत् के दृश्यों और शक्तियों को ही मौलिक मानकर उन्हीं के अनुसार अपने ध्येय को स्थिर करती है, परन्तु भारत के विचारकों ने मूल तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जगत् को प्रगति-शील पाया, उसके गूढ़ तत्त्वों पर विचार किया, और उसका उच्च आदर्श जानकर, उसे अनन्त काल के लिये हृदय-मोहक शब्दों में रख छोड़ा—‘असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतम्’। इस छोटे से मन्त्र में उन्होंने सभी मानव प्रयत्नों की राह निश्चित कर दी; सभी अवस्थाओं, सभी भेद-भावों को उसकी लपेट में भर दिया। उसी आदर्श को सच्चा आदर्श कह सकते हैं जो सार्वभौम हो। उपरोक्त आदर्श केवल योगियों और मुमुक्षुओं के लिये नहीं खड़ा किया गया था; वह एकदेशीय भी नहीं है। वह तो सभी अवस्थाओं, सभी परिस्थितियों, जीवन के सभी अङ्गों में पूर्णतया लागू है। जिस तरह वह मुमुक्षुओं को अपना कल्याण-मार्ग दिखाता है, उसी तरह वह गृहस्थों, राजाओं, सेठों, सुस्त्रियों और दुस्त्रियों को भी उनका कल्याण-मार्ग दिखाता है।

सांसारिक जीवन की सभी उलझनें असत् को सत् मान लेने से ही प्रारम्भ होती हैं। सत् और असत् का यही भेद है कि सत् का अभाव नहीं होता और असत् की स्थिति नहीं, उसकी केवल कल्पना, भावना होती है—“नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।” किसी भी परिस्थिति की जाँच की जाय, तो उपरोक्त बात की सत्यता स्पष्ट हो

जायगी। असत्—भावना होने से ही, जीव-जीव में, मनुष्य-मनुष्य में भेद-भाव, द्वेष वा आकर्षण, क्रोध वा आसक्ति आदि हुआ करती हैं। यदि राष्ट्र वा समाज अपना ध्येय यह बना ले, कि प्रत्येक मनुष्य में सत् और असत् के विवेचन की शक्ति जागृत की जाय, जिसमें कोई भी सत् को असत् और असत् को सत् न मानने लगे, तो क्या यह ध्येय उसके अयोग्य होगा? क्या यह ध्येय कार्यर्यान्वित नहीं हो सकता? क्या ऐसे समाज की सृष्टि नहीं हो सकती? यदि प्रकृति का सर्वोच्च पुष्प मनुष्य है, और यदि प्रकृति की गति ऊर्ध्वगामिनी है, तो कोई कारण नहीं है कि हम ऐसे समाज की सृष्टि के विषय में निराश हों, विशेषतः जब हमारा इतिहास बताता है कि इसमें कुछ तो सिद्धि अवश्य मिली थी। यदि हमारा ध्येय ही नीचा रहे, तो जिस संसार की हम सृष्टि करेंगे, वह उच्च तो हो नहीं सकता, उल्टे सदा नीचा ही रहेगा। जहाँ सब विचार, सब शिक्षा, सब प्रयत्न, उदर-पूर्ति पर ही नियमित रहते हैं, वहाँ सत् और असत् का विचार कैसे जग सकता है? मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि उदरपूर्ति का प्रयत्न निन्दनीय है, और उसकी ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिये। परन्तु सभी जीवन के अङ्गों का अपना अपना स्थान होता है, और यदि हम मूल तत्वों को अपने उचित स्थान पर रखें, तो सब अपने अपने उचित स्थानों को पा जायेंगे। अन्य देशों के ये विचार हों वा न हों, भारतीयों ने तो बराबर इसी सिद्धान्त को माना है कि मनुष्य स्वयं कृतयुग की सृष्टि कर सकता है और उसकी सृष्टि करना राष्ट्र का धर्म है। महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय ६६ में कहा गया है कि युगों का बनानेवाला राजा ही होता है। इस रीति से हम देखते हैं कि इस आदर्श को जीवन में चरितार्थ किया जा सकता है।

परन्तु इस असत् को सत् और सत् को असत् क्यों मानने लगते हैं? हम संसार के पदार्थों और परिस्थितियों की विवेचना में भूलें क्यों करने लगते हैं जिनके कारण हमारे बहुतेरे शुभ प्रयत्न भी निष्फल हो जाते हैं? हम चाहे काम, क्रोध, लोभ, या मोह के वश में हों, हम

सभी कामों को अपनी बुद्धि की सहायता लेकर ही करते हैं, परन्तु वह बुद्धि हमें धोखा दे देती है। इसका कारण यह है कि वह कामादि से कलुषित होकर, सत् और असत् के निर्णय करने में असमर्थ हो जाती है। इसलिए सत् और असत् का यथार्थ विभाजन करने, और उनको अपने-अपने स्थान पर रखने के लिए, पहले बुद्धि को निर्मल करने, उसे अपने सहज उच्च आसन पर स्थिर रखने की आवश्यकता है। साधारणतः उसका सहज प्रकाश तमोगुणी शक्तियों से धुँधला सा हो जाता है। इसी से ऋषियों ने 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कहा। जिसके सामने यह आदर्श सदा रहेगा, उसकी बुद्धि निर्मल होकर, सभी वस्तुओं, परिस्थितियों, संधानों का यथार्थ रूप न लेगा, और उसकी दृष्टि कभी वक्र नहीं, होगी। पाश्चात्य सभ्यता ने विज्ञान के सभी विभागों में आश्चर्य-जनक प्रगति दिखाई है परन्तु यदि पूछा जाय कि उसने संसार के सुख और शान्ति में कितनी वृद्धि की, दुखियों और भूखों के दुख और भूख को भगाने में कितनी सफलता पाई, और मनुष्यों में उन सामाजिक गुणों के विकास कराने में, जिनपर समाज खड़ा रहता है, कितनी प्रगति दिखाई, तो हमें खेद से कहना होगा कि कुछ भी नहीं। यदि यह बात ठीक न होती तो आज का संसार द्वेष और आतङ्क से भरा न होता।

जैसे काम, क्रोध, लोभ-मोह से मनुष्य का जीवन प्रेरित होता है, वैसे ही वह मृत्यु के भय से भी प्रेरित होता है। मनुष्य की यह स्थायी चेष्टा होती है कि वह अजर अमर हो जाय, जिन भोगों को वह भोग रहा है, वे छूटें नहीं और उनसे भी अधिक भोग प्राप्त होता रहे। अनेक अवस्थायें आती हैं जिनमें मनुष्य मृत्यु के भय से अनेक ऐसे कर्मों को कर बैठता है, जो उसकी असम्भावना में वह कदापि नहीं करता। द्वेष और शत्रुता का यह एक प्रमुख कारण है। अधीरता और भोग-तृष्णा की उत्कटता भी इसी से होती है। इस तरह हम देखते हैं कि यदि हम ज्योतिमान और सत् पर स्थित जीवन वा समाज बनाना चाहते हैं, तो हमें मृत्यु के भय को निकाल बाहर करना होगा। और इस कार्य की सफलता तभी

हो सकती है जब हमने पहले अपने जीवन को अन्धकार से मुक्त, ज्योति-मय बनाकर, सत् और असत् का भेद जान लिया है। तभी हम मृत्यु को पार कर अपरत्व को प्राप्त कर सकते हैं। तभी उस आदर्श जीवन और समाज की सृष्टि सम्भव होगी जिसके लिए सभी विचारवान सभी युगों में लालायित रहे हैं। इसीसे ऋषियों की अन्तिम प्रार्थना, याचना है—‘मृत्यो-र्माऽमृत ।’ जिसे मृत्यु का भय नहीं सताता, जिसने मृत्यु के सत्य-स्वरूप को जान लिया है, वह अमर हो गया है, उसी ने मृत्यु को जीत लिया है। ऐसा ही मनुष्य सच्ची प्रगति का ध्येय और दिशा बता सकता है।

यहाँ यथार्थवादी कह उठेंगे—“अरे, यह तो घोर आदर्शवाद है—केवल मनुष्य को भुलावे में डालने का उपाय है। यह यतियों, उदासीनों के दिल बहलाव का विषय हो सकता है, इससे हम संसारियों को क्या लाभ ? इस प्रश्न के मूल में सद्विवेक का अभाव है। यह संसार लाखों युगों से चला आता है—भारत तो इसे अनादि और अनन्त मानता आया है—और वही शक्तियाँ अब भी काम करती हैं जो पहले काम करती थीं, किन्तु बाहरी रूपों, और अभिव्यक्तियों से मोहित हमारी बुद्धि, उस गहराई तक जाने के कष्ट को न उठाकर, कार्य्य को कारण मानने लगती है। चाहे मैं पाँव पैदल, अपने पूर्वजों की तरह, छ महीनों में दिल्ली पहुँचूँ, अथवा हवाई जहाज से कुछ घंटों में ही पहुँच जाऊँ, चाहे पूर्व रीति से, मैं अपने माने हुए शत्रुओं को तलवार के घाट उतार दूँ, अथवा ऐटमबम से उसके साथ-साथ निर्दोषों की हत्या भी कर डालूँ—मैं तो वैसा ही काम, क्रोध, लोभ, मोह का पुतला हूँ, जैसा हमारे पूर्वज थे। इस बात को भूलकर, हम कारणों को अध्यात्म कहकर, एक एकान्त कमरे में बन्द कर देते हैं, और उसे जीवन-क्षेत्र से अलग-अलग रखना चाहते हैं, क्योंकि हमारा व्यक्तित्व, जो प्रकृति के मूल गुणों से ही पुष्ट होता है, उसे अपना शत्रु मानकर, उसकी पुष्टि में अपना नाश देखता है। परन्तु विचारवान उससे व्यक्तित्व का नाश नहीं, उसका पूर्ण विकास, उसका देवत्व में परिणति देखते हैं।

धन

भर्तृहरि ने विद्या को ही उत्तम धन—‘प्रच्छन्नगुप्तधनं’ ; ‘किमु धनैर्विधानवद्या यदि’—कहा है। उनकी कविता की वाणी होती हुई भी, उन दिनों के विचारों को प्रकट करती है। किन्तु आज अर्थ-शास्त्र (Economics) के वातावरण में, यदि हमारे भारतीय युवक उस पर हँस दें, तो इसमें आश्चर्य नहीं। साधारण मनुष्य तो विद्या को धन कभी नहीं मान सकता। वह जब ‘धन’ के विषय में सोचता है, तो उसके मन के सामने सोना, चाँदी अथवा सिक्कों के ढेर-के-ढेर नाचने लगते हैं, दर्जनों दास-दासियों से भरे, मनोहर महलों, पों-पों करती मोटरों, घोड़ों, हाथियों, हवाई जहाजों आदि के चित्र खड़े हो जाते हैं। बहुतेरों के विचारों में तो धन से ऐश्वर्य, सुरा और सुन्दरी का अकाश्रय सम्बन्ध है और धन के नाम से ही, उनकी ओर ध्यान दौड़ जाता है। आजदिन धन की माप किसी कार्नेजी (Carnegie) या रोथ्सचाइल्ड (Rothschild) से की जाती है। यद्यपि धन की इच्छा मनुष्यमात्र में होती है, उसकी उपयोगिता और उपभोग के विषय में भारतीयों और पाश्चात्यों में बड़ा अन्तर है। जहाँ भारतीयों की दृष्टि में जीवन के चार सन्तुलित लक्ष्य—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—माने जाते हैं, वहाँ पाश्चात्यों में जीवन का एक ही परम लक्ष्य माना जाता है—धन का उपार्जन। इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्यों में अनेक ऐसे दानवीर हुए हैं, जिनका बराबरी करनेवाला अन्य देशों में बिरला ही मिलेगा। तथापि उस सभ्यता का मूल ध्येय धन का उपार्जन मात्र है।

अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से जो धन की परिभाषा है, उस पर विचार करना मेरा ध्येय नहीं है। यहाँ साधारण मनुष्य के पक्ष से, धन पर एक दृष्टिपात करना और मानव-जीवन में उसका क्या स्थान है और होना चाहिए, स्थिर करना आवश्यक है। साधारण मनुष्य उसे ही धन समझता है, जिससे वह अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है—मजदूर अपने परिश्रम से प्राप्त सिक्कों को, किसान खेती से प्राप्त अनाज को, सेठ-साहुकार अपनी पूँजी से प्राप्त मुनाफा को, राजा, जमींदार, रैयतों से प्राप्त करों और सुविधाओं को ही धन मानता है। यदि हम आवश्यकताओं पर विचार करें, तो हम पायेंगे कि मनुष्यों में जो धन की लालसा है, वह आवश्यकताओं पर निर्भर नहीं रहती और आवश्यकताओं के विषय में भी, मनुष्यों के विचारों में भिन्नता होती है। जिसे भारतीय कृषक या खेतों का मजदूर आवश्यक नहीं समझता, वह यूरोप के मजदूरों तथा नगर-निवासी भारतीय मजदूरों के लिए अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होगा। आजकल सिगरेट पीना, चाय पीना, सिनेमा देखना नागरिक जीवन के लिए आवश्यक हो गये हैं, किन्तु देहाती जीवन में इनका कोई स्थान ही नहीं है। इतना होते हुए भी हम कह सकते हैं कि हमारी आवश्यकताएँ वही हैं जिनकी पूर्ति के बिना मनुष्य जी न सके—जैसे भोजन-पान, वस्त्र और विश्राम। परन्तु इनसे हम जी भर सकते हैं, सभ्य जीवन नहीं व्यतीत कर सकते। सभ्य जीवन के लिए हमें अनेक अन्य चीजें मिलनी चाहिए। सभ्य जीवन के अनेक स्तर होते हैं और हम जैसे-जैसे ऊपर की ओर बढ़ते हैं, हम पाते हैं कि आवश्यकताओं की गिनती बढ़ती जाती है। इस तरह स्पष्ट है कि प्राकृतिक मनुष्य की आवश्यकताएँ कुछ और हैं और सामाजिक मनुष्य की कुछ और। सामाजिक मनुष्य प्रतिदिन नई-नई आवश्यकताओं का निर्माण करता है और उनकी पूर्ति के लिए अधिक-से-अधिक धन की खोज करता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मनुष्यों में धन की कल्पना कैसे हुई? हम देखते हैं कि जन्म के समय तो कोई धन लेकर नहीं आता।

स्पष्ट है कि असाधारण व्यक्तियों, जैसे, लँगड़े, लूहे आदि को छोड़कर जन्म के समय सभी का धन अथवा धन का अभाव बराबर होता है। प्रारम्भिक युगों में ज्यादा मनुष्य पशुओं की श्रेणी से कुछ ही ऊपर उठा था, और सभ्यता की विडम्बना-भर हो पाया था, जब प्रतिदिन का जीवन प्रतिदिन के आखेट आदि पर निर्भर करता था, उस समय धन की सम्भावना ही नहीं थी। जब मनुष्य प्रतिदिन की आवश्यकताओं से अधिक उपार्जन करने लगा, तभी 'धन' की उत्पत्ति हो पाई। जिन लोगों ने उस बचे हुए अंश की वृद्धि की, वे कुछ समय के बाद अपने समाज के पूँजीपति हो गये। वे अपनी पूँजी से दूसरों की सहायता कर सकते थे, दूसरों से सेवा मोल ले सकते थे, और इस तरह स्वयं परिश्रम करने की आवश्यकता से मुक्त हो सकते थे। इस पूँजी की एक विशेषता यह भी थी कि यह कोई भी रूप धारण कर सकती थी—खेत, दास, मवेशी, रुपया। वह समाज के दूसरे मनुष्यों को पूँजीपति के वश में ला सकती थी। प्रारम्भिक युगों में इस पूँजी का रूप पशुधन और मनुष्य (दास) धन ही था। उस समय स्त्रियाँ भी धन ही समझी जाती थीं और जो जितना बड़ा पूँजीपति होता था, उतना ही बड़ा अन्तःपुर रखता था। उन युगों में सबसे बड़ा पूँजीपति राजा होता था और वह सहस्रों स्त्रियों का हरम रखा करता था। परन्तु जैसे-जैसे पूँजी का फैलाव बढ़ता गया, विनिमय का स्थान सिक्का लेता गया, और सभ्यता बहुमुखी होती गई, वैसे-वैसे 'धन' सिक्कों अथवा सिक्कों से प्राप्त पदार्थों का ही सूचक होता गया और उसकी माँग बढ़ती गई। पूँजीपति अपने समाज का आदर्श बनता गया, और लोगों की रुचि शारीरिक परिश्रम से हटकर, धन को एकत्रित करके, श्रम से बचने की ओर घूमने लगी। रुचि के अनुसार ही मनुष्य के कर्म हुआ करते हैं किन्तु जहाँ शारीरिक परिश्रम वर्जित हो जाय, वहाँ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये संघटनों की जरूरत होती है और संघटनों से नई आवश्यकताओं की सृष्टि होती है। परन्तु जैसे-जैसे पूँजी बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे धन का शारीरिक परिश्रम से मौलिक सम्बन्ध, मनुष्यों की दृष्टि से ओझल हुआ जाता है।

उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि जैसे सामाजिक संगठन मनुष्य की आवश्यकताओं पर शासन करता है, वैसे ही आवश्यकतायें मनुष्य की धन-नृणा पर शासन करती हैं। हम यह भी देखते हैं कि सभ्य-समाज में न तो धन का प्राथमिक अर्थ, न उद्देश्य, मनुष्यों के सामने रह जाता; वह तो उनके जीवन का परम लक्ष्य बनने लगता है। तात्पर्य यह कि जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने का साधन रहने के बदले वह स्वयं जीवन का साध्य हो जाता है। जैसे प्राचीन समय का कृपण अपने गाड़े हुए धन को गिन-गिनकर, परम आनन्द को पाता था, वैसे ही आज का पूँजीपति बैंक में बढ़ती हुई अपनी बचत को देखकर, वैसा ही सन्तोष और सुख पाता है। परन्तु इस लगन का एक अनपेक्षित फल होता है। जो रूप्यों के बल पर अपना जीवन बिताने के अभ्यस्त हो जाते हैं, वे उस बच्चे के समान हो जाते हैं, जो जन्म से ही गोद में रहा है, और अपने पैरों पर कभी खड़ा नहीं हुआ है। जैसे ऐसे बच्चे की टाँगें निर्जीव और अपने स्वाभाविक क्रिया के करने में असमर्थ हो जाती हैं, उसी तरह धन की लकुटी लेकर जीवन यात्रा करनेवाले मनुष्य के वे सद्गुण जो उसे पशुओं से विशिष्ट करते हैं, कभी विकसित नहीं हो पाते, क्योंकि उनके अभ्यास का मौका ही नहीं मिलता। यद्यपि धन के उपार्जन में स्वावलम्ब, परिश्रम, तत्परता, बुद्धि की तीक्ष्णता आदि गुणों की आवश्यकता होती है, और इनका विकास भी होता है, धन के पुजारियों में, हृदय और मस्तिष्क के उन भावों और शक्तियों का विकास नहीं हो पाता जो मनुष्य को देवत्व के स्तर पर उठा ले जाते हैं। भगवद्गीता में कहा है— 'योयच्छ्रद्धः स एव सः।' जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही हो जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। जैसे शरीर के अङ्ग, संचालन से ही पूर्णता को प्राप्त करते हैं, वैसे ही हृदय और मस्तिष्क की शक्तियों का विकास उनके अभ्यास से ही होता है। मन इन्द्रियों का राजा है, और वह जिस प्रतीक के रंगों में अपने को रंग लेता है, उसी में सभी मानवी शक्तियों को भी रंग देता है। इसका फल यह होता है कि उस मनुष्य का जीवन

उसी प्रतीक का उदाहरण-रूप होने लगता है। इसी को ऋषियों ने कर्म-बन्धन कहा है और इसी से मुक्त होने के लिए, अनासक्ति योग या कर्म योग की शिक्षा दी गई है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो जिस देवता की पूजा करता है, वह उसीके पास जाता है—उसी के समान हो जाता है। यदि धन को ही इस जीवन का देवता बनानेवाले, धन के ही गुणों को ग्रहण कर लें, तो आश्चर्य की बात नहीं।

इसलिये जब धन ही जीवन का ध्येय बन जाता है, तो मनुष्य उसके और अपने सत्य-स्वरूप को भूलकर, मोहवश यह भी भूल जाता है कि उसकी मानवता ही उपधन का कारण है। पशुओं को धन नहीं होता; परन्तु मनुष्य को बुद्धि मिली है जिसके कारण वह धन की सृष्टि करता है। उसके परिश्रम, संयम और सुविचार ही धन का रूप धारण कर लेते हैं। यह आश्चर्य और दुःख की बात है कि वह अपने ही निर्माण किये हुए वस्तु का दास बन जाता है। यदि हम इस बात को न भूलें, तो धन, न केवल अपने, किन्तु जगत के कल्याण का साधन बनाया जा सकता है।

भारत के कवियों ने लक्ष्मी को चञ्चला कहकर उनकी निन्दा की है। किन्तु थोड़ा विचार करने से ही स्पष्ट हो जायगा कि लक्ष्मी के पक्ष में, यह निन्दा की बात नहीं है। धन तभी सार्थक समझना चाहिये, जब वह बहता जल या रक्त की तरह समाज के अंग प्रत्यंग में दौड़ता फिरे। जैसे जल का बहाव रुक जाने से जल दूषित हो जाता है, उसी तरह वह धन जो कंजुसों के कोष-घरों में बन्द हो जाता है, दोष-युक्त हो जाता है। ऐसा ही धन अपने स्वामियों पर शासन करने लगता है और उन्हें मानव कहाने योग्य नहीं रहने देता। भर्तृहरि ने कहा भी है—‘धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते।’ साधारण मनुष्यों के दृष्टिकोण से धन के दो ही उचित कार्य हैं—भोग वा दान। अर्थशास्त्र के अनुसार इन दोनों से भी अधिक महत्त्व का एक उपयोग है—उसी से उसकी वृद्धि करना। धन को जब उत्पादन के कार्य में लगाया जाता है, तो

उसका उचित उपयोग होता है। परन्तु प्राचीन भारत में, दान पर ही जोर दिया जाता था। इतिहास से मालूम होता है कि ऐसा समय अभी तक कभी नहीं आया। जब धन सन्तुलित रूप से समाज के प्रत्येक अंग में फैला हो। धनी और दरिद्र का भेद सदा ही रहा है। इस भेद से उत्पन्न हुए दुःखों का शमन करना ही दोनों का ध्येय था। किन्तु, जैसा भारत में सदा ही होता आया है, दान को भी ब्राह्मणों ने अपने लिये ही रख छोड़ा। इसलिये दान के मूल लक्ष्य की तो सिद्धि नहीं हुई, उसके प्रतिकूल, उससे भी पूँजी-पतियों की सृष्टि होने लगी।

भारत के विचारकों ने जान लिया था कि अनियन्त्रित दान से भी समाज की बुराई हो सकती है। इसीसे भगवद्गीता ने दानों का तीन भाग कर दिया है—सात्विक, राजसिक और तामसिक। सात्विक दान की ही प्रशंसा की है। वही दान सात्विक कहा जाता है जिसे दानी अपना कर्तव्य समझकर, देश और काल के अनुकूल ऐसे योग्य पुरुष को देता है जिसने उसका कोई भी उपकार नहीं किया है। देश और काल पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ यदि कोई भूखों मर रहा है, तो उसे भोजन का दान देना ठीक ही है, किन्तु यदि उसने हठ करके उपवास किया है, अथवा यदि कुछ समय तक उसे भोजन देना निषिद्ध है, तो उस देश और काल में वह दान सात्विक नहीं हो सकता। आज के युग में, जब शारीरिक और मानसिक परिश्रम से बचने और आलसी जीवन व्यतीत करने की हवा-सी बह गई है और भिखमंगों की संख्या दिनदनी रात चौगुनी बढ़ रही है, हम कह सकते हैं, कि भारत में अधिकांश वैयक्तिक दान, सात्विक दान की परिभाषा में आने के बदले पापों में गिने जाने के योग्य हैं। वे केवल अकर्मण्यता की वृद्धि करते हैं और समाज को उच्च जीवन और प्रगति के आदर्शों से विमुख बनाते हैं। आज के वातावरण में वही सात्विक दान समझा जाना चाहिये जो सामाजिक वा सामूहिक भलाइयों के ध्येय से दिया जाता है। दूसरे दानों को पाप समझकर कानून द्वारा बन्द कर देना चाहिये। जब तक ऐसा

नहीं होगा, तब तक हमारे समाज में भिखमंगी और आलसी जीवन से वह स्वाभाविक घृणा और लज्जा नहीं लौटेगी जो सभी प्रगतिशील समाजों में पायी जाती है।

धन के व्यय और अपव्यय के विषय में मतभेद होना अनिवार्य है, क्योंकि कालिदास के शब्दों में, 'भिन्नरुचिर्हि लोकः', रुचि अलग होती है। किन्तु एक बात सभी को माननी पड़ेगी। आज दिन जब धन का उत्पादन इतना बढ़ गया है, कि पूर्व-युगों का धन उसके सामने एक बिन्दु का महत्त्व रखता है, तो स्पष्ट है कि धन के स्वामियों पर उसके उचित व्यवहार का उत्तरदायित्व गम्भीरतर हो गया है। इस विषय का मनुष्य-जीवन के उद्देश्य या आदर्श से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय दृष्टि-कोण से मनुष्य-जीवन का सबसे महान उद्देश्य धर्म है। उसके बाद ही क्रम से अर्थ, काम और मोक्ष आते हैं। धर्म का क्षेत्र समाज है; अर्थ, काम, और मोक्ष व्यक्तिगत हैं। धर्म का पालन करके मनुष्य अपने व्यक्तित्व को विस्तृत और सर्व-व्यापी बनाता है। वह असंख्य मानवों के दुःख-सुख में हाथ बटाकर, उनसे अपनी एकता स्थापित करता है; वह अपने से बाहर देखने का, अपने कर्मों के प्रभाव को एक विस्तृत क्षेत्र की पृष्ठभूमि पर तौलने का अभ्यास करता है, और तब अर्थ और काम का जीवन में यथार्थ स्थान निर्णय करने में सफल होता है। इस रीति से शिक्षित मनुष्य, धन की चकाचौंध से, अन्धा नहीं बन सकता; वह धन का दास न होकर, उसका यथार्थ स्वामी बनता है। उसके लिये धन, भोग का साधन न बनकर, जगत के मंगल का साधन बन जाता है। आज के वातावरण में, जब भोगलिप्सा ही जीवन का ध्येय बन गई है; जब पाश्चात्य सभ्यता की देन के रूप में, हमारे युवक समाज में, 'धर्म' शब्द—जिसका अर्थ भी वे नहीं जानते—सांकेतिक है बर्बरता और अप्रौढ़ता का, जीवन में धन के उचित स्थान के विषय में विचार करने की न तो रुचि होती है, और न अवकाश ही। उनके लिये धन-प्राप्ति और व्यय के साधन सरल और निरुपद्रव होने चाहिये।

उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि धर्म का अंकुश ही अर्थ और काम को अपने-अपने स्थान पर रख सकता है; और जब हम धर्म का आचरण सीख लेते हैं, तो अर्थ और काम की आवश्यकता और उनका जीवन में महत्व स्पष्ट हो जाता है। जब धर्म, अर्थ, और काम का सन्तुलन हो जाता है, तभी मनुष्य मोक्ष-पथ पर आरुढ़ होने का अधिकारी बनता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य शरीर से पशु और बुद्धि से मनुष्य है। अर्थ और काम, पाशविक रजस् और तमस् गुणों पर ही स्थित रहते हैं और उनका निग्रह पवित्र बुद्धि ही कर सकती है। परन्तु जिस बुद्धि को धर्म के आचरण से संस्कृत नहीं किया गया है वह इस कार्य में असमर्थ ही रह जायगी। बुद्धि को पवित्र और दृढ़ करनेवाला केवल धर्माचरण ही है।

धर्म के सूक्ष्म अर्थों में घुसने की यहाँ आवश्यकता नहीं। महाभारत ने इस प्रश्न की जटिलता पर कहा है—‘श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयोऽपिभिन्ना; नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥’ तथापि यह कहने में किसी को आपत्ति न होगी कि धर्म, जगत के मंगल का साधन है। इस महान् उद्देश्य को सामने रखकर जो कर्म किये जाते हैं, वही धर्म कहाने योग्य होते हैं। जो कर्म इसमें बाधा पहुँचावें, या इसके विपरीत हों, अधर्म, या पाप, कहे जा सकते हैं।

धन सांसारिक जीवन का एक आवश्यक अंग है। वह स्वभावतः न बुरा है, न भला है। उसकी भलाई बुराई उसके स्वामी की भलाई बुराई पर निर्भर है। यदि कोई धनपति अपने धन को किसी को पीड़ा देने, किसी की जान लेने, अथवा अपनी पाशविक प्रवृत्तियों की वृत्ति करने, आदि में व्यय करता है, तो वह व्यय किसी रीति से उचित नहीं कहा जा सकता, किन्तु यदि वही धन, जगत के, देश के अथवा समाज के मंगल साधनेवाले कामों में किया जाय, तो वही व्यय उचित है। भारतीय संस्कृति ने इन उच्च आदर्शों को सर्व-साधारण के जीवन का अङ्ग बनाने का प्रयत्न किया है। इसी उद्देश्य से गृहस्थ-जीवन के लिए,

पञ्च-महायज्ञ, पूजन, हवन और दान अत्यन्त आवश्यक बना दिये गये थे। जिन दिनों में इन विधियों का निर्देश हुआ था, उन दिनों के समाजों में, मानवता को ऊपर उठानेवाली, इनसे उत्तम विधि हो नहीं सकती थी। क्योंकि प्राकृतिक शक्तियों और उनके व्यवहार से प्राप्त भोगों की चपेट में पड़कर, मनुष्य, अपने सत्य-स्वरूप को भूलता ही रहता है और यह आवश्यक हो जाता है कि उसे उस सत्य-स्वरूप का स्मरण नित्य-प्रति दिलाया जाय। इन विधि विधानों से यह ध्येय सुचारु रूप से सिद्ध हो जाता था। जब बराबर के अभ्यास से मनुष्य अपनी संकुचितता के ऊपर उठ जाता है और अपने हृदय को उदार और दृष्टि को व्यापक बना लेता है, तो जगत के मंगल का ध्यान स्वाभाविक हो जाता है और वह अपना तन, मन, धन उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लगा देता है।

महात्मा गान्धी पूँजीपतियों को यह शिक्षा देते थे, कि वे धन को अपना न समझकर, उसे थाती (निक्षेप) समझें। इस सुझाव में अत्यन्त गहरे विचार भरे हुए हैं। यह केवल इस जीवन को सार्थक और मंगल का साधक नहीं बनाता। यह वह अभ्यास करानेवाली शिक्षा है जो मनुष्य को कार्य-बन्धनों से छुड़ा, और नियमित, बुद्ध और नाशवान होने की भावना रूपी माया को तोड़कर, मोक्ष के पथ पर पहुँचा देती है। ईशोप-निषद् ने भी यही शिक्षा दी है—

‘ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः.....’

इस भाव का अभ्यास करने की आज्ञा देकर उपनिषद् ने कर्मक्षेत्र में रहकर मोक्ष प्राप्त करने की सरल रीति बतायी। यदि मनुष्य संसार की वस्तुओं को स्वार्थ की दृष्टि से न देखे, अपना न समझे तो संसार का रूप ही बदल जाय। ऐसे समाज के बन जाने पर, उन बुराइयों का स्थान ही नहीं रह जायगा जिनसे आज का संसार पीड़ित है।

[फरवरी १९५२]

सौन्दर्य

मनुष्यों का आचार-व्यवहार अधिक अंशों में सामाजिक रूढ़ियों से प्रभावित होता है और इसी के कारण प्रत्येक समाज का मनुष्य दूसरे समाजों के मनुष्यों से विशिष्ट ही नहीं पाया जाता, परन्तु प्रत्येक समाज के मनुष्य-मनुष्य में अनेक समानताएँ पाई जाती हैं। इसके प्रतिकूल हम पाते हैं कि भाव और बुद्धि के क्षेत्रों में न तो ऐसी रूढ़ियाँ बन पायी हैं जो सर्व-सम्मत और सफल हो सकें, और न भविष्य में उनके बनने की आशा ही है। उन्हीं के क्षेत्रों का एक विषय 'सौन्दर्य' है। यदि हम किसी से पूछें कि 'सौन्दर्य' किसे कहते हैं, तो वह शायद इसे मूर्खता का प्रश्न समझेगा, और यदि हमें तिरस्कार करके चला न जाय, तो इतना तो अवश्य कह देगा, 'क्या यह भी तुम्हें समझाना होगा ?' किन्तु यदि हम स्थिर होकर इस शब्द के अर्थों पर विचार करें तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि उन अर्थों के भावों का विश्लेषण करना सुगम नहीं है। 'सौन्दर्य' किसे कहते हैं ?—सुन्दरं—सुष्ठु, उनत्ति आर्द्रा करोति चित्तं इति; सु+उन्द् क्लेदने+अरः। जो चित्त को आर्द्र करता है, रसमय बनाता है, वही 'सुन्दर' है। उसी का भाव 'सौन्दर्य' है। कवियों और लेखकों ने 'सौन्दर्य' को भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से देखा है और भिन्न-भिन्न रूप दर्साया है। इसका कारण यह है कि संसार के सभी रूपों का बोध तो इन्द्रियों द्वारा ही होता है किन्तु उनका विश्लेषण और संश्लेषण आन्तरिक शक्तियों पर निर्भर है। अतएव गुणग्राहिता मनुष्यों में समानता नहीं प्राप्त कर पाती।

प्रत्येक मनुष्य अपने वैयक्तिक मानदण्ड से ही गुणों के माप करने का अभ्यस्त रहता है ।

‘सौन्दर्य’ के विषय में भी उपरोक्त बातें सही हैं । कवियों और विचारकों की बातें आगे दी जायँगी, किन्तु यहाँ साधारण मनुष्यों पर दृष्टि-पात कर लेना उचित है । हम देखते हैं कि संसार में जितनी जाति के मनुष्य हैं, उतने ही भिन्न प्रकार का उनका गठन भी है, वर्ण भी है । तथापि प्रत्येक जाति के व्यक्तियों में ‘सौन्दर्य’ की भावना है, और उसका एक मानदण्ड भी है । यह भले ही ठीक हो कि एक जाति का मानदण्ड दूसरे जाति के मान-दण्ड से भिन्न हो, किन्तु ऐसे मानदण्ड का होना ही दिखाता है, कि मनुष्यों की विभिन्न विभूतियों में, सौन्दर्य की उपासना, एक विभूति है । अफ्रीका की काली जातियाँ, श्वेत वर्णवालों के लिए कुरूपता की प्रतीक हैं; तथापि वे भी अपने में विशिष्ट व्यक्तियों को सुन्दर मानते और कहते हैं । इसी तरह पीली, भूरी, श्वेत, और लाल जातियों के विषय में भी कहा जा सकता है ।

मनुष्य, चाहे वह किसी भी जाति का हो, केवल मनुष्यों में ही सौन्दर्य नहीं ढूँढ़ता और पाता है, वह संसार के सभी सजीव तथा निर्जीव वस्तुओं में ‘सौन्दर्य’ अथवा ‘कुरूपता’ का आरोप करता है और उसी के अनुसार, उसके प्रति अपने में राग या द्वेष भर लेता है । उसे प्राकृतिक दृश्यों में सौन्दर्य का आभास मिलता है । पुष्करिणियों की मन्द मुसकान में, नदियों के मधुर कलरव में, जंगलों की हरियाली में, पर्वतों की मूक गम्भीरता में, समुद्र की असीमता में, उसे अपनी सौन्दर्य-नृणा की कुछ वृत्ति होती है । परन्तु उसके लिये इतना ही यथेष्ट नहीं है । वह वाणी में, कर्म में, विचार में भी सुन्दरता ढूँढ़ता है । तात्पर्य यह कि वह अपने को सौन्दर्य से घेर देना चाहता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सौन्दर्य का अनुभव एक मानसिक वृत्ति है, यह हमारे प्रति दिन के व्यवहारों पर प्रभाव डालता अवश्य है अतएव सौन्दर्य का तत्त्व जानने का प्रयत्न आवश्यक है । आजदिन तो ‘सौन्दर्य’ के मतवाले कवियों,

उपन्यासकारों और मस्त युवकों की रेला ठेली है। 'सौन्दर्य' तो आज कपड़ों, गहनों और शोख निगाहों में ही अटक सा गया है, उसकी यथार्थता पर कौन विचार करे ?

जब हम कवियों, शिल्पियों, और चित्रकारों की बात सोचते हैं तो हमारी धारणा होती है कि जिनमें सौन्दर्य का आदर्श न हो, जिनका जीवन सौन्दर्य की पूजा न हो, वे इन उपाधियों के अयोग्य हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि हम चाहते हैं कि वे सदा सौन्दर्य का गुण-गान ही करते रहें परन्तु यह कि उनकी सभी कृतियों पर सौन्दर्य की स्पष्ट छाप पायी जाय। उनका विषय कुछ भी क्यों न हो, यदि वे सफल हुए हैं, तो उनकी सृष्टियों में सौन्दर्य ओत-प्रोत रहेगा। फिर भी न तो विचारकों ने, न कवियों ने ही, सौन्दर्य की परिभाषा देने का प्रयत्न किया है। इसका कारण यह है कि सौन्दर्य अनुभव का विषय है; वह शब्दों के नियम में नहीं आ सकता। फलतः जब कभी कोई सौन्दर्य को व्यक्त करना चाहता है तो उसे नाम और रूप की सहायता लेनी पड़ती है, क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति का दूसरा कोई साधन ही नहीं है। जब ऐसा विषय या आदर्श जो नाम और रूप के परे हैं, बरबस नाम और रूप के घेरे में लाया जाता है, तो वह आदर्श से नीचे ही रह जाता है।

यहाँ एक दूसरी विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। हम इस संसार का बोध इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं और इसी कारण स्वभावतः सांसारिक पदार्थों से ही अपने सौन्दर्य-पिपासा को शान्त करना चाहते हैं। अमूर्त को मूर्त करना और उसी से कुछ सुख पा लेना हमारा स्वाभाविक ढङ्ग है। यदि हम इस ढङ्ग के अभ्यस्त नहीं होते तो हमारे लिये यह संसार कब का अन्तर्ध्यान हो गया होता।

जब हम अपने सौन्दर्य के आदर्श को मूर्त करना प्रारम्भ करते हैं, तो जिससे हमारा सबसे अधिक सम्बन्ध है, जिससे हम अनेक भावुक सूत्रों से बँधे हैं, उसी स्त्री रूपिणी सहचरी में उस आदर्श को 'ढूँढ़ना', हमारे लिये अत्यन्त स्वाभाविक हो जाता है। फलतः स्त्री ही सौन्दर्य का

प्रतीक बनायी जाती है। इस प्रवृत्ति के मूल में कामना की प्रेरणा सम्मिश्रित रहती है, और इसी से वह अत्यन्त बलवती होती है। यद्यपि सौन्दर्य की भावना अनियमित है, और उसे हम इस संसार के प्रत्येक अंश में चरितार्थ पाते हैं, भावुक मनुष्य स्वभाव, इन्द्रियों से प्रेरित होकर, सौन्दर्य को अपनी कामनाओं की तृप्ति का साधन ही बनाना चाहता है।

ऊपर कहा गया है कि कवियों ने सौन्दर्य की परिभाषा नहीं दी है। इतना और कह देना चाहिये कि प्रत्येक कवि ने सौन्दर्य को अपने वैयक्तिक दृष्टि-कोण से देखा है। जैसे, जहाँ कीट्स (Keats) ने कहा है कि “A thing of beauty is joy for ever” (सुन्दर पदार्थ चिरंतन आनन्द का विषय है), वहाँ शेक्सपियर (Shakspeare) ने लिखा है—“Beauty is but a vain and daubtful, good.....a gloss, a glass, a flower, lost, foded, broken, dead within an hour. (सौन्दर्य एक विफल और संदिग्ध श्रेय है.....एक ऊपरी मुलम्मा, एक शीशा, एक फूल, जो खो जाता है, सूख जाता है, टूट जाता है, घंटे भर में मर जाता है। सुक्रात (Socrates) के अनुसार सौन्दर्य एक निष्ठुर-शासन^१ (Tyranny) है, प्लेटो (Plato) के अनुसार, यह प्रकृति का दिया हुआ विशेषोपहार (Privilege) है, बेकन (Bacon) ने कहा है कि सौन्दर्य का सबसे उत्कृष्ट अंश वह होता है जिसे कोई भी चित्र दर्सा नहीं सकता (The best part of beauty is that which no picture can Express) बोवी (Bovee) ने कहा है “The beauty Seen is partly in him who sees it” (दृष्ट-सौन्दर्य का कुछ अंश उसमें होता है, जो उसे देखता है)। इस रीति के असंख्य उद्धरण दिये जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट होगा कि न केवल पाश्चात्य कवियों ने, परन्तु विचारकों ने भी, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से सौन्दर्य का वर्णन किया है और सौन्दर्य क्या है, किसीने नहीं बताया है। यद्यपि “कुमारसम्भवम्” में कालिदास ने एक परिभाषा दी है—“प्रियेषु सौभाग्यफला हिंवारुता” (प्रिय का जो प्रेम

पावे, वही सौन्दर्य है), और कहा जाता है कि जब लोगों ने सुन्दर मजनू से इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया, कि वह क्यों कुरूप लैला पर जान दे रहा था, तो उसने कहा कि “लैला को मेरी आँखों से देखो,”—दोनों ही बातों से इसी बात की पुष्टि होती है कि “सौन्दर्य” का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता और एक ही वस्तु सभी को “सुन्दर” नहीं प्रतीत होती। सौन्दर्य की पराकाष्ठा वर्णन करते हुए, कालिदास ने लिखा है—“सर्वोपमाद्रव्य समुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन” और “अखण्डं पुण्यानां फलमिव”; और तुलसीदासजी ने लिखा है—“सुन्दरता कहं सुन्दर करई” इनसे भी यही प्रत्यक्ष होता है कि सौन्दर्य का यथार्थ वर्णन करने में, कवि अपनी असमर्थता स्वीकार करता है।

हम देख चुके हैं कि यद्यपि स्वभाव के कारण, मनुष्य का सौन्दर्य प्रतीक स्त्रियों से सम्बद्ध हो गया है, मनुष्य की आन्तरिक सौन्दर्य-पिपासा सृष्टि के सभी पदार्थों में सौन्दर्य ढूँढ़ती है। सौन्दर्य का आदर्श और वही हो या न हो, भारत के विचारकों ने ऐसा आदर्श निश्चित करने, और उसे ही साहित्य और कला का मूल सिद्धान्त बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है। यह आदर्श है ‘सत्यं, शिवं, सुन्दरं।’ प्रश्न है, क्या कोई पदार्थ, या भाव आदि, जो ‘सत्यं’ और ‘शिवं’ नहीं है, वह ‘सुन्दर’ हो सकता है? पाश्चात्यों की दृष्टि में ऐसा सम्भव है। शेक्सपियर लिखता है—‘O ? how much more do the beauty beauteous seen by that sweet ornament that truth do the give’ (सत्य-रूपी मधुर अलंकार से सुशोभित होकर सौन्दर्य कितना अधिक सुन्दर प्रतीत होता है), ‘Beauty is often worse than wine in troxicating both the holder or the unholder. (Zinsner man) सौन्दर्य मदिरा से भी खराब है क्योंकि यह रखनेवाले और देखनेवाले दोनों को मत्त कर देता है)। इस तरह पाश्चात्यों के अनुसार सौन्दर्य की भावना स्वतन्त्र है और ‘सत्यं’ अथवा ‘शिवं’ से उसका मौलिक सम्बन्ध नहीं है।

‘सत्यं, शिवं, सुन्दरं’ पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि इसमें के प्रत्येक शब्द, पृथक् भावनाओं वा चित्त-वृत्तियों (thoughts) का संकेत करते हैं; अतएव तीन शब्दों की आवश्यकता हुई। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट होगा कि हमारी सौन्दर्य की भावना केवल इन्द्रियों पर स्थित नहीं रहती। ऐसा नहीं होता तो ‘भिन्नरुचिर्हिलोकः’ सत्य नहीं होता। तब सभी एक ही वस्तु को सुन्दर वा असुन्दर मानते और उस परिस्थिति में समाज का कुछ दूसरा ही रूप होता। प्रत्येक जीव के भीतर सौन्दर्य का विशेष आदर्श होता है और जब उस आदर्श को पहुँचता हुआ कोई पदार्थ उसके सामने आता है तो उसमें आनन्द का सञ्चार होता है, और वह उसमें आसक्त हो जाता है। यदि वह कवि है तो उस पदार्थ को देखकर, उसके हृदय से उसकी उत्तमतम कविता, यदि वह शिल्पकार है, तो उसकी उत्तमतम कृति और यदि वह चित्रकार है, तो उसका सर्वश्रेष्ठ चित्र, अनायास ही प्रत्यक्ष हो जाता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि उसमें यह आदर्श आया कहाँ से ? यदि इन्द्रियाँ सौन्दर्य नहीं देतीं, और बाह्य संसार की स्थिति में न तो सौन्दर्य है न कुरूपता है, तो अवश्य हम इन भावनाओं को अपने भीतर पैदा करते हैं और बाह्य-जगत में आरोपण करते हैं। आज का विज्ञान यह मानने लगा है कि दृष्ट-जगत के बोध में, जीवों की अन्तःशक्तियों का बहुत अधिक भाग रहता है, और जहाँ विज्ञान केवल एलेक्ट्रनों और प्रोटनों का खेल देखता है, वहाँ साधारण मनुष्य, गुणों का सामञ्जस्य देखकर, अपने को सुखी, दुखी आदि बनाता है। इस विचार धारा को कुछ अधिक आगे बढ़ाने पर स्पष्ट होने लगता है, कि कुछ अंशों में, हम अपना संसार स्वयं गढ़ते हैं, और वह हमारी छाप से विभूषित होकर ही हमारे सामने आता है। दूसरे शब्दों में हमारा संसार प्रधान अंशों में हमारे अस्तित्व की अभिव्यक्ति मात्र है। फलतः सौन्दर्य अवश्य हमारे अस्तित्व का एक प्रधान अङ्ग है। यदि हमें सौन्दर्य की लालसा है, तो हम स्वयं सुन्दर अवश्य हैं। इस बात की पुष्टि में बताया जा सकता है कि कुरूप से कुरूप शरीरवाला भी

सौन्दर्य का आदर्श रखता है, और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसलिये उस कुरूप शरीर में रहनेवाला 'आत्मा' 'अस्ति' कुरूप नहीं हो सकता। उसका व्यक्तित्व जो संसार के सम्पर्क से बनता और बिगड़ता है, जिसकी उन्नति और अवनति होती है, जिसे मनोविश्लेषण-वादियों ने, परिस्थितियों का पुतला माना है, वह भले ही उस भावना को प्रतिबिम्बित न करे, किन्तु वह सौन्दर्य की भावना कभी न कभी बलवती अवश्य हो जाती है।

इस दृष्टिकोण से थोड़ा भी विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय विचारकों ने 'सुन्दर' के पहले 'सत्य' और 'शिव' शब्दों को क्यों रक्खा? साहित्य और कला का उचित विषय क्या मनुष्य का उपरोक्त व्यक्तित्व है अथवा उसका सत्यस्वरूप? क्या साहित्य और कला को, मनुष्य के अन्तःस्थल में स्थित सौन्दर्य के आदर्श को मूर्त करना चाहिये जो मनुष्यत्व को एक स्तर ऊपर उठानेवाला है अथवा इन्द्रियों के अत्याचारों से पीड़ित, काम, क्रोध लोभ, मोह के भ्रमावातों से बिलोड़ित व्यक्तित्व की अधोगामिनी प्रवृत्तियों को वागाडम्बरों में सज-धज कर लोक को ठगना चाहिये? कहा जा सकता है कि मनुष्य तो दोनों स्रोतों का सम्मिश्रण है; उसमें देवता भी है, दैत्य भी है, आध्यात्मिकता के साथ-साथ भौतिकता भी है इसलिये, यदि साहित्य और कला एकाङ्गी होना नहीं चाहती तो उन्हें दोनों बातों पर ध्यान रख कर ही अपने नियमों को निश्चित करना चाहिये। यह बात कुछ अंशों में सत्य होते हुए भी, पूर्ण सत्य नहीं है, जैसा आगे दिखाया जायगा। यहाँ इतना ही कह देना चाहिये कि जहाँ आदर्शों की बात है वहाँ तो सर्वोच्च आदर्श को ही सामने रखना चाहिये, क्योंकि जीवन-स्रोत को वही उपर उठा सकता है। और 'सत्य', 'शिव', 'सुन्दर' से बढ़कर मानवता को उठानेवाला दूसरा आदर्श हुआ ही नहीं।

'सत्य' तो वही है, जो बराबर है, जिसकी 'अस्ति' में कोई सन्देह नहीं है, जिसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि आज है, कल नहीं।

है, आज मान्य है, कल अमान्य है, आज उसकी डङ्गा बजती है, कल निन्दा होती है। 'सत्य' आत्मा है, 'असत्य' माया है। असत्य सत्य को घेरे है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुरुम्',—उसने परदा डालकर उसके प्रकाश को रोक दिया है। बिना उस 'दुर्दर्श' गुह्यहित' सत्य के दर्शन को पाये, क्या मनुष्य, मनुष्य ही रहता है ? नहीं—वह तो एक अन्धकार से अधिक गहरे अन्धकार में जाता ही रहता है, (क्योंकि स्थिर तो कुछ रह नहीं सकता) —'असूयर्नानाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृत्ताः', अन्धं तमः प्रविशन्ति'। जो सत्य रूपी दीपक से मुख मोड़ लेता है, वह अन्धकार में नहीं जायगा, तो कहाँ जायगा ? यदि साहित्य और कला का उद्देश्य केवल समय नष्ट करना नहीं है, और उन्हें सत्य की खोज में मनुष्य का सहायक बनना है, तो वे असत्य को, माया को, आदर्श कभी नहीं बना सकते। इस तरह हम देखते हैं कि साहित्य और कला का योग्य आदर्श 'सत्य' ही हो सकता है। और जो कला और साहित्य 'सत्य' को अपना ध्येय बनाता है, वह उसी के अस्तित्व के गुणों से अर्जित होकर, उसी के स्वभाव-अमरत्व-को प्राप्त होता है। बाल्मीकि ने आदर्श राजा, आदर्श पुरुष का सत्य देखा। व्यास ने मानवता में देवत्व का सत्य देखा और इसी से रामायण और महाभारत अमर हो गये। अब जो 'सत्य' है वही 'शिव' भी है, क्योंकि सत्य के प्रतिकूल कुछ भी 'शिव' हो नहीं सकता। और जो 'सत्य' नहीं है, 'शिव' नहीं है, वह 'सुन्दर' कैसे होगा ? यदि 'सुन्दर' हमारे अस्तित्व का भाग ही है, तो वह उसके प्रतिकूल कैसे हो सकता है ? यदि मैं ही 'सत्य' हूँ, और मैं ही 'शिव' हूँ, तो मेरा सौन्दर्य का आदर्श 'सत्य' और 'शिव' के अनुकूल ही होगा। इससे स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि-कोण से 'सौन्दर्य' का 'सत्य', और 'शिव' होना अनिवार्य है। जो इसके विपरीत है, उसे 'सुन्दर' नहीं कहा जा सकता।

देव और दानव का मूल तो एक ही है, और जहाँ देव हैं वही दानव भी हैं। हम दानव को दानव जानते रहें, तब तक कोई हानि नहीं। गड़बड़ तो तब होता है जब हम दानव को देव समझने लगते हैं, और

उसकी चमक-दमक से प्रभावित होकर, 'सत्य' को भूल जाते हैं। जो 'सत्य' 'शिव' 'सुन्दर' का प्रेमी होगा, जो इस आदर्श का भक्त होगा, उसके लिए, 'सुन्दर' और 'असुन्दर' का विभाजन कभी अस्पष्ट, धोखे की बात नहीं हो सकती। वह गरल में अमृत के गुणों को नहीं ढूँढ़ता, और न शैतान को भलेमानस का वेष ही दे सकता। उसके लिए अशुभ का इतना ही मूल्य है, कि वह भी शुभ की छटा से दीप्तिमान हो उठता है; उसे दैत्यों की आवश्यकता इससे है, कि उनके पटपर कमलापति की सलोनी मूर्ति अधिक निखर आती है; उसके लिये रावण की काली घटा का इतना ही उपयोग है कि राम की दमक से वह भी चमक उठे। वह तो उसी का गान करता है, जो सभी प्रतीकों का प्रतीक है, जिसकी विभूतियों का लक्षांश भी यह संसार नहीं है, और जब वह अनन्त का, अनन्त में, अनन्त खेल देखता है, तो उसे न तो उन्माद होता है न विस्मृति। वह नर-राज का ताण्डव देखता है, और उसका हृदय नाच-नाच कर अपनी कृतियों में उसी अनन्त ताल और लय को भर देता है; वह असीम की नाभि से हिरण्य गर्भ को निकलते देखकर, सृष्टि कर्म के सौन्दर्य और माधुर्य से ओत-प्रोत हो जाता है और उसकी कला उसी असीमता की अभिव्यक्ति हो जाती है; और जब वह अनन्त विश्व को विश्वम्भर की गोद में विलीन होते देखता है, तो उसकी शक्तियाँ मूक हो जाती हैं और वह अपने को भूल कर, केवल, 'नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।' कह पाता है।

उपर्युक्त सभी विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति उसे 'सौन्दर्य' कहने के लिए नहीं तैयार है, जो मनुष्य के सत्य स्वरूप के अनुसार नहीं है, वह कामादि से विलोडित इन्द्रियों को भले ही सुन्दर प्रतीत हो। ऐसे मौलिक भेद के कारण, पाश्चात्य और भारतीय साहित्य और कला का भिन्न होना, आश्चर्य की बात नहीं है।

प्रेम

आज दिन जहाँ सुनिये वहीं 'प्रेम' अथवा 'Love' की पुकार और माँग है; जिधर देखिये उधर ही 'प्रेमी' कहाने का दावा रखनेवालों की भरमार है। किसी उपन्यास को उलटिये, उसमें प्रेम का चित्रण और उसपर व्याख्यान अवश्य पाइयेगा। दार्शनिकों का प्रेम, वैज्ञानिकों का प्रेम, डॉक्टरों का प्रेम, और पूर्वीय और पाश्चात्य प्रेम, भिन्न-भिन्न रूपों में देखने में आता है। इसलिए इस प्रेम के तत्त्व पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। किन्तु इस अन्वेषण में सफलता प्राप्त करने के लिये 'प्रेम' अथवा 'Love' शब्द के इतिहास पर विचार करना होगा।

स्त्री-पुरुषों का परस्पर आकर्षण प्राकृतिक शक्तियों की प्रेरणा से स्वाभाविक होता है। इसीसे प्राचीन से प्राचीन साहित्य में भी उस अवस्था का वर्णन पाया जाता है जिसमें एक, दूसरे से आकर्षित होता है। उस समय भारतीयों ने इस अवस्था को कामावस्था कहा था। इस 'काम' शब्द से प्रधानतः भोग-विलास और सन्तति-उत्पादक कर्म की प्रवृत्ति का बोध होता था। पाश्चात्यों ने उस आकर्षण के लिए 'Love' (लव) शब्द का व्यवहार किया परन्तु उसका क्षणिक आकर्षण (fancy) से विश्लेषण कर दिया। जैसे शेक्सपियर ने कहा है—

'Tell me where fancy bred

Or in the heart or in the head' आदि

(मुझे बताओ कि फैन्सी (fancy) का जन्म हृदय में अथवा मस्तिष्क में होता है)।

इतना होते हुए भी पाश्चात्य विचारों के अनुसार ऐसे 'Love' का स्वाभाविक परिणाम स्त्री-पुरुष का वैवाहिक सम्बन्ध ही समझा जाता था। गत शताब्दी में 'Love' के अर्थ में गूढ़ता और व्यापकता आने लगी। 'Love' से अब केवल वही अवस्था नहीं समझी जाती जिसका परिणाम विवाह होता है। व्यभिचार-दूषित आकर्षण और वासना-युक्त समर्पण भी 'Love' के लपेट में लाया गया है। हम भारतीय तो अनुकरण में विख्यात हैं और 'प्रेम' को 'Love' का सतवाचक बना देना हमारे लिए कोई असम्भव बात नहीं है।

बात तो यह है कि हिन्दी में 'प्रेम' के अर्थ को इस रीति से संदिग्ध करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे पूर्वजों ने प्रत्येक अवस्था के लिए भिन्न शब्दों का व्यवहार किया है। प्रेम केवल स्त्री-पुरुष में नहीं होता। वह तो मित्रों में, भाइयों, बहनों, पिता-पुत्र, स्वामी-दास, सहवासियों आदि में सम्भव होता है। हम यह भी नहीं कह सकते कि ऐसा प्रेम, स्त्री-पुरुष के प्रेम से किसी तरह हेय होता है। प्राचीन कथाओं से विदित होता है कि अनेक मित्र-मित्र के लिये, भाई-भाई के लिये, पित्रा-पुत्र के लिये अपने प्राणों का बलिदान कर दिये थे। प्रश्न यह है कि केवल स्त्री-पुरुष के प्रेम का ही आलाप हम क्यों लिया करते हैं ? हम इसी को प्रधानता क्यों देते हैं ? थोड़ा विचार करने से ही स्पष्ट होगा कि हम यह प्रधानता अपने मनुष्यत्व के आधार पर नहीं देते, हम जब मूढ़ प्रकृति की उत्तेजनाओं के वश में हो जाते हैं तो यह प्रधानता स्वाभाविक प्रतीत होने लगती है। परन्तु जब हमारी बुद्धि ज्ञान की ज्योति से निर्मल हो जाती है और हम मानवता के मौलिक गुणों को देख पाते हैं, तो हम स्त्री-पुरुष प्रेम को मानवता की पराकाष्ठा न समझकर, उसे उसका उचित स्थान देते हैं।

प्रेम का स्थान, हृदय बताया जाता है। पाश्चात्यों ने, स्त्री-पुरुष प्रेम को, साकार बनाकर, (cupid) बनाकर, उसे अन्धा बताया है। इसका भाव यह है कि ऐसी अवस्था में मनुष्य के विवेक का लोप हो

जाता है। यदि मनुष्य और पशु का विभेद विवेक से ही होता है, तो ऐसी परिस्थिति निन्दनीय अवश्य है। परन्तु प्रेम के उपरोक्त अन्य रूपों का स्मरण करते हुए प्रेम को अन्धा कहना ठीक नहीं है।

जैसे बाह्य-जगत में आकर्षण शक्ति प्रधान है, उसी तरह अन्तर्जगत् में 'प्रेम' शक्ति प्रधान है। जिस तरह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से आकर्षित होता है उसी तरह एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की ओर आकृष्ट होता है। इस आकर्षण का क्या कारण है कहना कठिन है। फिर यह भी देखा जाता है कि कोई व्यक्ति एक से आकृष्ट होता है, तो दूसरे से दूर भागता है। अन्तर्जगत् के भरोखे हमारी इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रिय मन के वश में रहती हैं। इसी से मन की अवस्था के अनुसार ही अन्तःकरण पर बाह्य जगत की छाप पड़ती है। जब मन की मांग यथेष्ट मात्रा में प्रतिबिम्बित हो उठती है, तभी सांसारिक प्रेम जाग्रत हो उठता है।

प्रेम को 'शक्ति' कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। जब 'प्रेम' जाग्रत होता है तो साधारण मनुष्य भी अलौकिक कर्मों को कर बैठता है। गृहस्थ जीवन के उच्चतम कर्तव्यों से लेकर, युग को परिवर्तन करनेवाले कर्मों तक 'प्रेम' शक्ति के उत्थान पर सम्भव हो जाते हैं। सच्चे प्रेमियों के लिये शरीर का इतना ही मोल रह जाता है कि वह उनकी अभीष्ट सिद्धि का साधन है।

जो प्रेम इन्द्रियों के विकारों से कलुषित नहीं होता वही सर्वोत्तम है, क्योंकि वह अमर है। ऐसा प्रेम, संयम नियम आदि से संस्कृत, शुद्ध बुद्धि से परिष्कृत, हृदय में ही उत्पन्न हो सकता है। ऐसा प्रेम माँगता नहीं, केवल देता भर है। ऐसे ही प्रेम को हमारे पूर्वजों ने "भक्ति" कहा है। वे जानते थे कि ऐसा प्रेम इन्द्रियों के विषयों में हो नहीं सकता, क्योंकि विषयों के साथ इन्द्रियों का अटूट सम्बन्ध है और उनका संयोग होने पर कुछ न कुछ विकार की उत्पत्ति अनिवार्य है। पाश्चात्य विद्वान् इस मूल सिद्धान्त को पान सके हैं, अथवा पाकर भी इसे ग्रहण करने में असमर्थ हुए हैं। यही कारण है कि यद्यपि वे स्त्री-

पुरुष प्रेम के आदर्श को शुद्ध बनाने और ऊपर उठाने का पूरा प्रयत्न करते हैं, तथापि वे इसे इन्द्रियों के विकारों से निर्लिप्त नहीं कर पाते। उन्हें इन्द्रिय सुख की लालसा लगी ही रहती है और जिसे वे विशुद्ध प्रेम का आदर्श कह कर चित्रण करते हैं उसमें भी उन्हें विकारों और भोगों को घुसा देना ही पड़ता है। भारतीय दृष्टि कोण से यह प्रेम नहीं, काम है। ऐसा “प्रेम” आदि से अन्त तक किसी न किसी इन्द्रिय पर निर्भर रहता है। प्रेम के अन्य रूप, यथा, वात्सल्य, मैत्री, देशप्रेम आदि भी इन्द्रिय विकारों से मुक्त नहीं होते।

परन्तु मानव जीवन तो प्रकृति की चपेटों से सहसा मुक्त हो नहीं सकता। जब तक प्रकृति की गति प्रकृति की ओर है, शुद्ध प्रेम तो किसी किसी के लिये ही सम्भव होगा। साधारण मनुष्य तो इन्द्रिय सुख का लोभी रहेगा ही। ऐसी अवस्था में प्रेम का कोई भी रूप अन्धेरी रात के जुगनू का काम करता है। यह दीपक, नश्वर होकर भी, ज्योतिर्मान रहता है और सुदूर पथ की धुँधली रेखा तो दिखा देता है (“Love is heaven and heaven is love” वाली बात उपरोक्त पृष्ठभूमि पर असत्य होकर भी, “heaven on Earth” (पृथ्वी पर स्वर्ग का दृश्य) संभव सा कर देता है। जब प्रेम की ज्योति फैलती है, तो संसार की उलझनों से पीड़ित हृदय को शान्ति प्राप्त होती है; शुष्क जीवन के उद्यान में वसन्त का आगमन होता है और संसार का क्रूर रूप मधुमय हो जाता है।

उपन्यास—एक दृष्टिकोण

साहित्य के इतिहास की दृष्टि से काल को उसी तरह अनेक युगों में बाँटा जा सकता है, जैसे भूतत्त्वविज्ञान, जीव-विज्ञान आदि की दृष्टि से। इसका कारण यह है कि प्रत्येक युग की सभ्यता विशिष्ट सिद्धान्तों पर टिकी होती है और उस समय के मानव-जीवन में उन्हीं सिद्धान्तों की पूर्ण अथवा आंशिक अभिव्यक्ति होती है। इसलिए साहित्य और कला, जो मानव-हृदय और बुद्धि के भावों और विचारों को प्रकट करते हैं, उन्हीं मौलिक सिद्धान्तों से सदा प्रभावित रहते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि हृदय की नैसर्गिक माँगें सभी युगों में एक ही रहती हैं, तथापि, जैसे शर्बत को शीशे, मिट्टी, चाँदी, सोने आदि के पात्रों में दिया जा सकता है, उसी तरह उन माँगों को अनन्त रूपों में प्रकट किया जा सकता है। इस रीति से एक युग था जब मनुष्य अपने भावों और विचारों को ऋचाओं में ही व्यक्त करता था। संसार में वेदों के समकालीन साहित्य के अभाव के कारण हम यह नहीं कह सकते कि दूसरे देशों में प्राथमिक साहित्य का कोई दूसरा रूप भी हुआ कि नहीं। गद्य-साहित्य का आविष्कार पद्य के बाद ही हुआ था। यह वैदिक-साहित्य के अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि गद्य पहले-पहल ब्राह्मण-काल में ही पाया जाता है, जो ऋग्वेद-काल से बहुत पीछे आया। इसका अर्थ यह नहीं है कि वैदिक जनता ऋचाओं में ही वार्तालाप करती थी, किन्तु इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि उस समय गद्य साहित्य का उचित माध्यम नहीं समझा जाता था।

साहित्य का विस्तार मानव जीवन की उन्नति और विस्तार के अनुकूल ही होता है, और जिस काल में जैसी शैली और भाव की प्रधानता रहती है वह काल उसी के नाम से प्रसिद्ध होता है। इसी से वह काल, जब भारत में सूत्रों की भरमार थी, सूत्र-काल के नाम से विख्यात है। उसी नियम के अनुसार आज का दिन उपन्यास-काल कहलाने योग्य है। आज संसार में, प्रतिवर्ष, कितने उपन्यास लिखे और छापे जाते हैं कहना असम्भव तो नहीं, परन्तु अत्यन्त कठिन है। यदि हम संसार को छोड़ दें, और भारत पर ही ध्यान सीमित रखें, तब भी हम देखेंगे कि भारतीय उपन्यासों का निर्माण आश्चर्यजनक है। और हिन्दी में तो उपन्यासों और छोटी कहानियों की ऐसी भरमार है, कि हिन्दी साहित्य उनसे लद-सा गया है। उनमें अधिकांश ऐसी ही होती हैं, जो असंस्कृत बुद्धि और हीन विद्यावाले मनुष्यों को आकर्षित करती हैं; और समय का मूल्य न जानने वाले प्राणियों के लिए समय नष्ट करने का साधन बनती हैं। जिस किसी को हिन्दी में कुछ लिखने की इच्छा होती है, वह छोटी कहानियों अथवा उपन्यासों से ही श्रीगणेश करता है। पाठकों की रुचि और मानसिक परिधि का इसीसे पता चलता है कि जब उच्चकोटि की पत्रिकाओं, निबन्धों और पुस्तकों की माँग अत्यन्त सीमित है, टकाही कहानियों अथवा उपन्यासों को प्रकाशित करनेवाली पत्रिकाओं की माँग दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती है। खेद तो यह है कि इनकी खपत अधिकतर छात्रों और नवयुवकों में ही होती है। ऐसी कहानियाँ और उपन्यासों की जाँच करने पर पता चलेगा, कि नाम-ग्राम छोड़कर, उनमें भारतीयता का गन्ध तक नहीं रहता। यदि नाम-ग्राम बदलकर अङ्गरेजी नाम-ग्राम रख दिये जायँ, तो स्पष्ट हो जायगा कि उस कहानी-उपन्यास को कोई भी पाश्चात्य लेखक लिख सकता था। ऐसी अवस्था के कारण पर आगे चलकर विचार किया जायगा, यहाँ पर उपरोक्त आलोचना को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

श्री हरिश्चन्द्र ने मौलिक नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' लिखा और 'दुर्लभ बन्धु' के नाम से शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद भी किया। इसी तरह प्राचीन 'कथासरित्सागर' के प्रायः सभी सभ्य देशों में अनुवाद हो चुके हैं और अनेक रूपान्तर भी हुए हैं। किन्तु अनुवादों से, अथवा रूपान्तर भी करने से इन ग्रन्थों का उद्भव कभी संशयमय नहीं रहता, क्योंकि एक में आर्य और दूसरे में पाश्चात्य संस्कृति कूट-कूट कर भरी हुई है।

भारतीय साहित्य के लम्बे इतिहास के अध्ययन से हमें एक बात स्पष्ट हो जाती है। जब कभी हमारे पूर्वजों की दृष्टि में, किसी अन्य देश की कोई बात ग्राह्य प्रतीत होती थी, तो वे उसपर अपनी भारतीय संस्कृति की ऐसी पुट देते थे कि उसकी विदेशीयता नष्ट-प्राय हो जाती थी। इसका एक बड़ा उदाहरण हमारा प्रचलित ज्योतिष-शास्त्र है। यह अब सिद्ध हो गया है कि यह विद्या यबनों (ग्रीकों) की देन है।^१ परन्तु भारतीयों ने जिस कंकाल को लिया उसे अपने परिश्रम और अन्वेषण के फलों से यों ढक डाला, कि आज उसकी मौलिक विदेशीयता स्वीकार करना कठिन हो जाता है। अशोक ने तो अपने शिला लेखों में विदेशी राजाओं के नामों को भी भारतीयता दे दी है, जैसे, 'अलेक्जेन्डर' का 'अलीकुसुन्दर' 'टोलोमी' का 'तुलुमय' आदि। विख्यात गुणाढ्य की प्रसिद्ध 'बृहत्कथा' पैशाची भाषा में लिखी गई थी, और कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उसमें कतिपय कथायें अन्य देशों से ली गई थीं जैसे फारस, तुर्कीस्तान, पिशाच देश आदि। गुणाढ्य की वह अनूद्य कीर्ति तो नष्ट हो गई, किन्तु सोमदेव की 'कथासरित्सागर', जिसे सोमदेव ने 'बृहत्कथा' के आधार पर ही लिखा है, आज भी प्राप्त है। उसकी कथाओं को पढ़ने पर हठात् यह कहना असम्भव हो जाता है कि अमुक कथा विदेशी है, यद्यपि अनेक

१-निश्चयात्मक रूप से यह कह सकना कठिन है। बल्कि इतिहास का तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले इसके विपरीत मत रखते हैं। भारत से ही ज्योतिष-शास्त्र ग्रीकों द्वारा युरोप में फैला। —सं० *Hindi Sanskrit Library*

कथाओं का रूपान्तर, ईरान, अरब, ग्रीस, इटली, स्वीडन आदि देशों में प्रचलित पाया जाता है। इसका कारण यही है कि उनपर भारतीयता की गहरी छाप पड़ गई है। किन्तु आज हमारे लेखकों में वह शक्ति ही न रही।

अधिकांश भारतीयों में तो यह भ्रम भी रहता है कि 'उपन्यास' पाश्चात्यों की देन है। इससे जब वे उपन्यास लिखने बैठते हैं तो पाश्चात्य-जीवन, विचार और कला को आदर्श बना कर उसका अनुकरण करना ही उत्कृष्ट समझते हैं। कहीं पर तो पाश्चात्य आचार-विचार भारतीय पट पर खींच दिये जाते हैं जो अत्यन्त असंगत होते हैं।^१ अतः 'उपन्यास' के इतिहास का अध्ययन करना मनोरंजक और लाभदायक भी होगा। इसके पहले पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों पर तुलनात्मक दृष्टि डाल लेना लाभदायक होगा।

प्रत्येक जाति के जीवन के मूल में कुछ ऐसे सिद्धान्त रहते हैं, जो उस जाति को पृथ्वी की सभी अन्य जातियों से विशिष्ट बनाते हैं। किसी समाज का अध्ययन तब तक अधूरा ही रह जाता है, जब तक हम इन मौलिक सिद्धान्तों और प्रेरणाओं को ढूँढ़ नहीं निकालते। ये सिद्धान्त प्रत्येक जाति के धर्म सम्बन्धी विचारों में ही स्पष्ट रूप में पाये जाते हैं और उनका प्रभाव उस जाति के आदर्शों, जीवन के उद्देश्यों, और समाज के संगठन में व्यक्त होता है। पाश्चात्य जीवन इस मौलिक सिद्धान्त पर अधिष्ठित रहता है कि भगवान् (जो पिता रूप हैं) ने मनुष्य को अपने समान रूप का बनाया और समस्त सृष्टि के अन्य जीवों को—कीट-पतंगा पेड़-पौधे, फल-मूल, द्विपद, चतुष्पद, खगादि उसी के सुख के लिए ही बनाया। भगवान् की कृपा को न भुलाना, उनका नित्य गुणगान करके उन्हें

१—यद्यपि यह ठीक है कि उपन्यास स्वतः पश्चिम की देन नहीं। फिर भी उपन्यासों का वर्तमान कलेवर बहुत अधिक मात्रा में पश्चिमी साहित्य द्वारा गढ़ा गया है। और समय की गति के साथ-साथ विचारों की एकदेशीयता कितनी कम गई है यह किसी से छिपी नहीं। आज विचारों की दुनिया में विशुद्ध एकदेशीय कहकर क्या कोई चीज रह गई है ?—बं०

प्रसन्न रखना और उनके क्रोध का पात्र न बनना ही इहलोक में सुख प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है; और उन्हीं को प्रसन्न करके हम स्वर्ग को पा सकते हैं जहाँ सभी पार्थिव सुखों की पराकाष्ठा चिरन्तन रूप में प्राप्त होती है। इसलिए पाश्चात्य जीवन का स्वाभाविक उद्देश्य पार्थिव सुखों की पराकाष्ठा को प्राप्त करना ही हो जाता है। साधनों के विषय में भले ही मतभेद हो, किन्तु उद्देश्य और आदर्श एक ही रहते हैं। साहित्य और कला तो सामाजिक जीवन को अङ्कित करनेवाले दर्पण हैं। पाश्चात्य साहित्य और कला यदि उपरोक्त आदर्शों और प्रेरणाओं को ही अङ्कित करती हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जब शारीरिक और मानसिक सुख के रूप में इन्द्रिय-वृत्ति ही जीवन का लक्ष्य बनायी जायगी, तो स्पष्ट है कि मनुष्य उस अनित्य, परिवर्तनशील, अपूर्ण संसार में आकर, अप्राप्य वस्तुओं और अवस्थाओं में अनुरक्त हो न केवल स्वयं दुःखी, विलसी और असहनशील हो जाएगा, परन्तु जीवन-मात्र को संघर्षमय, प्रतिद्वन्द्वियों से भरा, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला क्षेत्र समझने लगेगा और इस सिद्धान्त का भक्त हो जाएगा कि 'आप भला तो जग भला'। जब ऐसे विचार मानव जीवन पर अधिकार कर लेते हैं, तो इन्द्रियों का नियमन एक हँसी की बात हो जाती है। आदर्शों की चर्चा गपोड़, काल्पनिक, अपुष्ट मस्तिष्कों का गढ़न्त, अस्वाभाविक तक कही जाने लगती है। जब किसी समाज का वातावरण ऐसे विचारों से भर जाता है, तो उसका साहित्य वैसी परिस्थिति का चित्रण करने पर बाध्य हो जाता है। यही कारण है कि यूरोप के अधिकांश उपन्यासों में ऐसे ही चित्रों की प्रधानता हो गई है, जिनमें उच्छृङ्खलता, स्वार्थपरता और संकीर्णता अनियन्त्रित भावों से प्रेरित कच्चे विचारों की लपेट में आकर्षक रूप धारण कर लेती हैं और हिन्दी के साधारण उपन्यासकार उन्हीं को आदर्श मानकर, हिन्दी की उन्नति करना चाहते हैं।

मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि उपरोक्त कारणों से पाश्चात्य उपन्यासकार निम्न कोटि के हैं; परन्तु भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार जिस कला

ने मानव स्वभाव को देवत्व की ओर उठाने का ध्येय नहीं रखा, वह तो व्यभिचारिणी कही जाने योग्य है। इस देश में उसी वाणी की सराहना की जाती थी जो 'संस्कृता' (पवित्र) होती थी; वही विद्या विद्या मानी जाती थी जो 'अनवद्या', (निष्कलंक) होती थी। यहाँ पुस्तकों की जाँच करने वाले (बुय) होते थे, और जिसका वे आदर नहीं करते थे, 'सो श्रम वृथा बाल कवि करहीं', 'कीरति भणित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।' ये नियम भातीय संस्कृति के मूलाधार 'सर्वे सन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः' से ही निकले हैं, क्योंकि यह सिद्धान्त तब तक चरितार्थ नहीं हो सकता, जब तक सभी कर्म इसी के अनुकूल नहीं किये जा सकते। पाश्चात्य सिद्धान्त ('कला कला के लिए') भारतीय कलाकारों का आदर्श कभी नहीं हुआ। वे तो, अपनी संस्कृति के अनुसार 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' के ही पुजारी थे।

किन्तु भारतीयों और पाश्चात्यों में इतना ही भेद नहीं है। यूरोप के सभी देशों में लेखकों की दो श्रेणियाँ हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी। बहुत लोग 'यथार्थवाद' उसी को कहते हैं, जिसमें सामाजिक नियमों का विरोध करनेवालों, उच्छृङ्खल, इन्द्रियों से प्रेरित मनुष्यों और मानव स्वभाव की कमजोरियों के हृदयग्राही चित्र खींचे जायँ। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद का विभाजन मौलिक होने पर भी, अस्पष्ट विचारों पर अधिष्ठित है। (Real) यथार्थ के विषय में विचारकों में आदि से ही मतभेद चला आता है, और जब तक यह परिवर्तनशील सृष्टि रहेगी, तब तक यह भेद रहेगा ही। जहाँ पाश्चात्यों ने इस दृष्टिगोचर प्रपञ्च को सत्य माना है, वहाँ भारतीयों ने इसे 'माया' कहा है। जहाँ पाश्चात्यों ने इस संसार से अधिक से अधिक इन्द्रिय-सुख प्राप्त करना ही जीवन का ध्येय बना लिया है, वहाँ भारतीयों ने इसके प्रलोभनों को दमन करके उनसे ऊपर उठना, स्वतन्त्र अवस्था का निर्माण करना ही सर्वोच्च ध्येय माना है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीयों ने इस लोक से मुँह मोड़ लिया है; वे इस लोक को अपने उच्च आदर्शों में

ढाल देने का प्रयत्न करते हैं। 'विद्यां या विद्यां च यस्तद्वेदो मयं सह । अविद्यया मृत्युं नीत्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।' इन कारणों से जहाँ पाश्चात्यों में आदर्शवादी और यथार्थवादी का विभाजन अनिवार्य है, वहाँ भारतीयों में यह विभाजन असंगत है।

भारत के राष्ट्रीय, धार्मिक या साहित्यिक इतिहास का प्रारम्भ अज्ञात, अन्धकारमय शताब्दियों के उदर में छिपा हुआ है। किन्तु जब उस अन्धकार का परदा हटता है, तो हम वेदों और उनमें वर्णित समाज को जानकर उनकी श्रेष्ठता, पूर्णता और विकास पर चकित रह जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उस सुदूर समय में उनकी बराबरी में आनेवाला न कोई दूसरा ग्रन्थ; न समाज ही मिलता है। दूसरा कारण यह है कि भारतीयों के सभी विकासों का बीज इन्हीं वेदों और वैदिक समाज में ही पाया जाता है। अतः यदि हम उपन्यासों का भी बीज वेदों में ही पावें, तो यह आश्चर्य की बात न होगी !

मनुष्य तो स्वभाव से ही संघ-चारी जीव है और वह जहाँ भी पाया जाता है, समाज के एक अंग के रूप में पाया जाता है। समाज की भित्ति भावों और विचारों के आदान-प्रदान पर ही खड़ी की जा सकती है। साथ ही साथ स्पष्ट है कि मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य लुधा-निवृत्ति है और इसके लिए शारीरिक और बौद्धिक श्रम अनिवार्य हो जाता है। श्रम और विश्राम परस्पर सम्बद्ध हैं क्योंकि बिना विश्राम के न तो शक्तियों का संचय हो सकता, न उनमें नवीनता लाई जा सकती। अब यह प्रश्न उठता है कि यह विश्राम का समय कैसे व्यतीत हो ? इसका उत्तर भारतीय संस्कृति ने जोरदार शब्दों में दिया है—

‘शास्त्र काव्य विनोदेन कालोगच्छति धीमतां ।

व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥’

बुद्धिमानों का समय शास्त्र और काव्य में विनोद पाते हुए व्यतीत होता है; मूर्खों का समय व्यसन, निद्रा वा कलह में व्यतीत होता है।

एक आधुनिक अंगरेज कवि ने भी लिखा है —

“Rest is not the quitting this busy career;

It is the fitting of one's self to one's sphere.”

[विश्राम का अर्थ कार्य (व्यवसाय) छोड़ कर बैठना नहीं है; विश्राम से मनुष्य अपने को अपनी परिस्थिति के योग्य बनाता है।] उपरोक्त श्लोक में ‘शास्त्र-काव्य-विनोद’ ध्यान देने योग्य है। भारतीयों ने सनातन से ही समय का मूल्य जाना था और इसी से उनका ध्येय विश्राम के समय में भी उच्च-आदर्शों और उच्च-प्रयत्नों का वातावरण बनाये रखना था।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है कि ‘शास्त्र काव्य’ को मनोरंजक रूप देकर, उनमें जनता का मन लगा देना भारतीयों के लिए परमावश्यक था। इस भाव के मूल में जगत् का मंगल साधने का, अशिक्षितों को शिक्षित बनाने का और मानवता को एक स्तर ऊपर उठाने का उच्च आदर्श था। इस महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिये साहित्य और कलाकारों के सर्वोच्च गुणों की आवश्यकता थी; दुधमुँहे, वागा-उम्बरो को सार मानने वाले, इन्द्रियोन्माद के चरमे से नवीनता ढूँढ़नेवाले लेखकों से ऐसे कार्य नहीं बनते। भारत का भरा-पूरा साहित्य-भाण्डार इस बात की पुष्टि करता है।

भारत में कथा बनाने और कहने की कला वेदों के समय से ही चली आती है। यद्यपि ऋग्वेद धर्मग्रन्थ है, उसमें भी देवताओं, ऋषिओं और राजाओं की रोचक कथाएँ आ ही गई हैं। ब्राह्मण और उपनिषद् काल में आख्यानो और कथाओं की बहुलता हो गई। बुद्धदेव और महावीर जिन के जन्म के पहले से ही जातकों, महाभारत और रामायण में संग्रह की हुई कथाओं की स्थिति सिद्ध हो चुकी है और पुराणों का पूर्व रूप भी उसी युग का माना जाता है। हमें इसके प्रमाण भी मिलते हैं कि प्राचीन भारत के प्रत्येक ग्राम और नगर में ऐसे केन्द्र बनाये जाते थे जहाँ सभी निवासी एकत्रित हुआ करते थे और भिन्न-भिन्न साधनों से मनोविनोद किया करते थे। यह केन्द्र स्थानीय सभा-भवन (जिसे पाली में संठागार

कहा जाता था) ही होता था। इन साधनों में सबसे लोकप्रिय और प्रचलित साधन सूतों द्वारा गाये गये कथानकों का सुनना था। बड़े-बड़े राजाओं और महर्षियों के महायज्ञों के समय भी दैनिक पूजापाठ, हवनादि के बाद विख्यात सूतों से प्रसिद्ध कथाओं को सुनने की प्रथा थी और इसी तरह रामायण और महाभारत की कथाएँ प्रकाशित हुई थीं। इन बातों से स्पष्ट है कि दूसरी जातियों में हो वा न हो, भारतीय आर्यों में कथा बनाने और कहने की कला अत्यन्त प्राचीन है और कहा जा सकता है कि यह कला आर्य-जीवन का अंग ही बन गई है। परन्तु, इतना ही नहीं। इस भारतीय कला ने संसार के सभी देशों को प्रभावित किया है, इसमें अब कोई संदेह नहीं रह गया है।

उपन्यास के इतिहास में हम धर्म-प्रधान वैदिक साहित्य को छोड़ सकते हैं यद्यपि उस साहित्य में भी अनेक मनोहर कहानियाँ पाई जाती हैं जैसे उर्वशी और पुरुषा की कथा, विख्यात राजा सुदास पर दस संगठित आर्य और दस्यु राजाओं का आक्रमण, शंख और लिखित की चकित करने वाली कथा इत्यादि। इन्हें छोड़ कर हमें निम्नलिखित कथाओं के वृहत् संग्रह मिलते हैं।

(१) बौद्ध-जातक ।

(२) दिव्यावदानादि बौद्ध ग्रंथों में दी हुई कथाएँ ।

(३) रामायण, महाभारत और पुराण ।

(४) गुणाढ्य की बृहत्कथा (जो नष्ट हो गई) ।

(५) दण्डी का दशकुमार-चरितम् ।

(६) कादम्बरी, हर्ष चरितम् (बाण) ।

(७) ईसा की पहली दस शताब्दियों में लिखी गई प्राकृत और अपभ्रंश की बहुत सी पुस्तकें ।

(८) पञ्चतन्त्र ।

(९) कश्मीरी सोमदेव की 'कथा सारित्सागर' और जैन; गंगधारा-निवासी सोमदेव की 'यशस्तिलक' ।

(१०) बेताल पञ्चविंशति आदि (बैताल पचीसी) ।

(११) सिंहासन द्वात्रिंशिका (सिंहासन बत्तीसी) ।

भारत का कथा-भण्डार इतना विस्तृत है कि सभी ग्रन्थों की सूची बनाना इस समय असम्भव-सा प्रतीत होता है। किन्तु यह पूर्ण भण्डार 'स्त्र-काव्य-विनोद' वाले आदर्श का उदाहरण रूप ही है।

इस तरह हम देख पाते हैं कि भारतीय-साहित्य के (उपन्यास) कथा-विभाग का इतिहास अनेक सहस्र शताब्दियों में फैला है। इस लम्बे काल को, हम मोटा-मोटी चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) प्रारम्भ से बुद्ध काल तक—धर्म प्रधान युग; (२) बुद्ध काल से ईसा जन्म तक—पाली युग; (३) ईसा काल से चौदहवीं शताब्दी तक—संस्कृत और अपभ्रंश युग; (४) चौदहवीं शताब्दी से आज तक—प्रान्तीय भाषा युग। आज तक भारतीय साहित्य के इस विभाग का विदेशों में ही वैज्ञानिक नियमों के अनुसार अध्ययन किया गया है। सम्भव है कि जब भारतीयों की दिलचस्पी इस ओर फिरेगी और इस विषय का स्वतंत्र और सूक्ष्म अध्ययन होने लगेगा तो उपरोक्त विभाजन में उलट-फेर आवश्यक प्रतीत होगा। किन्तु इस लेख के लिए यह विभाजन पर्याप्त है। प्रथम युग की कथाएँ, किसी धार्मिक वा सामाजिक सत्य पर प्रकाश डालने, सिद्ध करने वा खण्डन करने के अभिप्राय से कही गई हैं। दूसरे युग की कथाओं का ध्येय तो वही रहता है, किन्तु सामाजिक गुण-दोषों का सूक्ष्म चित्रण प्रकट होने लगता है। तीसरा युग पारचात्य रोमान्सों की बराबरी करनेवाले रोमांसों का सृजन काल है, जैसे दशकुमारचरितम्, कादम्बरी कथा सरित्सागर, चरास्तिलच और अपभ्रंश और प्राकृत में लिखी अनेक पुस्तकें। तीसरे युग की पुस्तकों का प्रभाव भारत के बाहर दूर-दूर देशों में पड़ा। पञ्चतन्त्र के आधार पर 'अन्वर सुहैली (पिलपे की कहानियाँ)' फारसी में लिखी गई, और 'खलीला दाम्ना' उसी की कुछ कहानियों का संग्रह है। गुणाध्या की 'वृहत्कथा' अथवा सोमदेव

की 'कथा सरित्सागर' से 'अल्लिफ लैला' प्रभावित हुआ। इन अरबी-फारसी की पुस्तकों से 'जेस्टा रोमेनोरम (Jesta Romanorum)' और बोकैचियो की "डि कैमेरन (De Cameron)" प्रभावित हुईं। इन दो विख्यात पुस्तकों ने यूरोप के प्रत्येक देश के साहित्य को प्रभावित किया। अनेक विद्वानों के घोर परिश्रम से सिद्ध हो गया है कि "पञ्चतन्त्र" तथा "कथा सरित्सागर" की अनेक कथाएँ, कुछ हेर फेर के साथ यूरोप के प्रत्येक देश में फैल गई हैं।

कितने आधुनिक हिन्दी उपन्यासकारों और कहानी लेखकों को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि अन्य देशों की तो बात ही क्या, भारत के दूसरे प्रांतों में भी उन्हें ऐसी ख्याति मिले ?

[नवम्बर १९५१]

समाप्त



